समकालीन पाश्चात्य दर्शन
में
नैतिक तर्कना का स्वरूप

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी. फिल. उपाधि
के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध
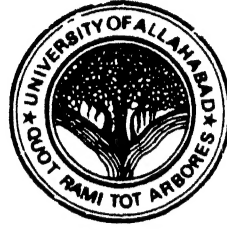
प्रस्तुतकर्त्ता
राजीव द्विवेदी

निर्देशक
डा० हरिशंकर उपाध्याय
रीडर, दर्शन विभाग

दर्शन शास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

अगस्त १६६६

प्रस्तावना

प्रस्तुत शोध का विषय ''समकालीन पाश्चात्य दर्शन मे नैतिक तर्कना का स्वरूप'' है। एम. ए. दर्शन शास्त्र के पाठ्यक्रम में एक विषय ''उच्च नैतिक दर्शन'' था जिसका अध्ययन करते समय इस समस्या में मेरी विशेष रुचि उत्पन्न हुई। अपने गुरु एवं शोध पर्यवेक्षक डॉ० हरिशंकर उपाध्याय से विचार-विमर्श के पश्चात् मैने इस विषय का चयन किया। समकालीन नैतिक दर्शन में तर्कना का स्वरूप वास्तव में जटिल एवं बहुआयामी है। मैने इस प्रबन्ध में प्रज्ञावाद, संवेगवाद, परामर्शवाद, अच्छे तर्कों का सिद्धान एवं नव्य प्रकृतिवाद का विवेचन किया है। किन्तु ये सभी अधिनीतिशास्त्रीय सिद्धान्त मूलतः नैतिक भाषा के तार्किक विवेचन के आधार पर नैतिक संप्रत्ययों एवं नैतिक तर्कना का स्वरूप निर्धारित करने का प्रयास करते है, अतः प्रथम अध्याय में उन अर्थ-सिद्धान्तों का विश्लेषण किया गया है जिनके आधार पर इन सिद्धान्तों के समर्थकों ने अपने-अपने मतों को स्थापित किया है। इस सन्दर्भ में अर्थ के निर्देशन सिद्धान्त (मूर एवं रॉस), सत्यापन सिद्धान्त (ए. जे. एअर) मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त (चार्ल्स स्टीवेंसन), प्रयोग सिद्धान्त एवं वाक्कार्यों का सिद्धान्त (आर.एम. हेअर स्टीफेन ट्लामिन, पी.टी. गीच, फिलिपाफुट एवं जी.जे. वार्नाक) का विश्लेषण एवं मूल्यांकन किया गया है। बिना इन सिद्धान्तों को समझे हुए न नैतिक निर्णयों के स्वरूप का निर्धारण हो सकता है, न नैतिक तर्कना का। मैंने दिखाया है कि इन सभी सिद्धान्तों में विट्गेंस्टाइन का प्रयोग सिद्धान्त, विशेष रूप से जे.एल. आस्टिन का वाक्कार्यों का सिद्धान्त सबसे अधिक उपयुक्त है। द्वितीय अध्याय में दो प्रज्ञावादियों –जी. ई. मूर एवं डब्ल्यू० डी० रॉस के विचारों का विवेचन हुआ है। मूर के अनुसार शुभ का एवं रॉस के अनुसार शुभ एवं उचित का वोध केवल प्रज्ञा से होता है। इस स्थिति में नैतिक तर्कना के लिए स्थान संभव नहीं है। किन्तु मूर ने अन्य मतों के खण्डन के लिए जिन तर्कों का प्रयोग किया है, विशेष कर खुले प्रश्न या सार्थक प्रश्न का उनका नैतिक दर्शन के विकास में क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ा है। इसी प्रकार मूर एवं रॉस द्वारा नैतिक संप्रत्ययों की व्याख्या के लिए प्रस्तावित ''आश्रितता'' या ''निर्भरता'' की अवधारणा किसी न किसी रूप में सभी परवर्ती

दार्शनिकों में विद्यमान है और आज भी वस्तु एवं कर्म के प्राकृतिक गुणों तथा उनपर आश्रित नैतिक संप्रत्ययों के सम्बन्ध की उपयुक्त व्याख्या नही हो पाई है। नैतिक तर्कना की यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण समस्या है। एअर ने श्लिक, कार्नप आदि के समान नैतिक निर्णयों में केवल संवेगात्मक अर्थ स्वीकार किया है। संवेगात्मक अर्थ के कारण नैतिक तर्कना पुनः असंभव हो जाती है। किन्तु सी.एल. स्टीवेंसन ने मनोवैज्ञानिक अर्थ-सिद्धान्त के आधार पर नैतिक निर्णयों के कार्य एवं प्रमाणीकरण की समस्या को नया आयाम दिया है। उसने नैतिक निर्णयों में संवेगात्मक एवं वर्णनात्मक दोनों अर्थों को माना है। इसी लिए वह नैतिक विवाद में तथ्यात्मक एवं मनोवैज्ञानिक दो प्रकार के तर्कों को स्वीकार करता है। तथ्यात्मक तर्कों का सम्बन्ध विश्वास सम्बन्धी असहमति है, एव ये तर्क सामान्यतः स्वीकृत आगमनात्मक, निगमनात्मक युक्तियाँ हैं। किन्तु नैतिक विवाद में मुख्य महत्व अभिवृत्तियों की असहमति का है। स्टीवेंसन के अनुसार इनके लिए प्रेरक तर्क ही संभव हैं जहाँ युक्तियों का उद्देश्य वैध तर्क देना नहीं, बल्कि श्रोता को संवेगात्मक या मनोवैज्ञानिक रूप से प्रभावित करके कुछ करने या न करने के लिए प्रेरित करना होता है। इनके लिए वैधता का प्रश्न ही नही उठता। स्पष्ट है कि इन तर्कों को नैतिक तर्कना के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

परामर्शवाद का प्रणेता आर.एम. हेअर है। उसने स्पष्ट किया है नैतिक भाषा संवेगात्मक नहीं परामर्शात्मक है। नैतिक निर्णयों का कार्य आचरण के सम्बन्ध में हमारा मार्ग दर्शन करना है। नैतिक निर्णयों में वर्णनात्मक एवं मूल्यात्मक दोनों अर्थ होते हैं। वर्णनात्मक अर्थ के कारण नैतिक निर्णय तथ्यात्मक कथनों के समान सार्वभौमिक होते है तथा इनमें वे सभी तार्किक सम्बन्ध संभव होते है जिनके आधार पर निगमनात्मक युक्तियों की रचना संभव होती है। इसे स्पष्ट करने के लिए उसने ''फ्रैस्टिक्स'' एवं ''न्युस्टिक्स'' में अन्तर किया है। ''फ्रैस्टिक्स'' का सम्बन्ध वाक्य के विषय से एवं ''न्युस्टिक्स'' का सम्बन्ध इलोक्युशनरी शक्ति से है। वह दिखाता है कि नैतिक निर्णयों का कार्य परामर्श देना है। प्रत्येक परामर्श से विशिष्ट आदेश अनुलग्न रहता है। इस आधार पर वह मानता है कि नैतिक युक्ति व्यावहारिक न्याय वाक्य है जिसमें मुख्य

आधार वाक्य मूल्यात्मक होता है, अमुख्य आधार वाक्य विषय से सम्बन्धित तथ्यात्मक कथन होता है, एवं निष्कर्ष मूल्यात्मक।

स्पष्ट है कि हेअर के अनुसार नैतिक तर्कना पूर्णतः निगमनात्मक है। यह उसी प्रकार वैध या अवैध हो सकती है जिस प्रकार सामान्य निगमनात्मक युक्तियाँ। किन्तु हेअर के सिद्धान्त में एक बहुत बड़ी समस्या है। वह मानता है कि मुख्य आधार वाक्य सामान्यतः सामान्य नैतिक नियम होता है। ये नियम स्वतः सिद्ध नहीं है। अतः इनकी वैधता का भी प्रश्न उठाया जा सकता है, किन्तु हेअर का उत्तर है कि ये नियम व्यक्ति के अपने निर्णय पर निर्भर हैं। इस प्रकार व्यक्ति के अपने निर्णय के कारण इन तर्कों में अन्त में वस्तुनिष्ठता की समस्या उत्पन्न होती है। हेअर ने अपने परवर्ती पुस्तकों एव लेखों में इसका समाधान करने का प्रयास किया है। इसके लिए मुख्य रूप से वह सार्वभौमिकता के नियम एव व्यक्तियों की इच्छाओं तथा स्थिति से संबद्ध तथ्यों का प्रयोग करता है। किन्तु इसमें भी व्यक्ति के निर्णय का तत्त्व समाप्त नहीं होता।

टूलमिन ने नैतिक तर्कना का वर्गीकरण दो प्रकारों में किया है : एक, कर्तव्य से सम्बन्धित तर्क, दो, नैतिक नियमों से सम्बन्धित तर्क। प्रथम का स्वरूप अत्यन्त सरल है। प्रत्येक समुदाय में नैतिकता से सम्बन्धित कुछ स्वीकृत एवं मान्य नियम होते हैं। यदि कोई कर्म इनके अनुरूप है तो वह उचित है। टूलमिन के अनुसार नैतिकता का प्रश्न समुदाय के सन्दर्भ में ही उठता है। पर कभी-कभी इन सामान्य एवं स्वीकृत नियमों के औचित्य का प्रश्न उठाया जाता है। इस स्थिति में जो तर्क दिया जाता है वह मूल्यात्मक अनुमान के नियम पर निर्भर होता है, किन्तु इसका प्रयोग आधार वाक्य के रूपमें नही होता। इन तर्कों का आधार व्यक्तियों के हितों का सामंजस्य है। इन दोनों को ही टूलमिन अच्छे तर्कों का सिद्धान्त कहता है। उसकी मान्यता है कि नैतिक तर्क निगमनात्मक या आगमात्मक नही होते, किन्तु नैतिक निर्णयों के पक्ष या विपक्ष में अच्छे तर्क दिये जा सकते हैं। पर टूलमिन के सिद्धान्त में दो तरह की कठिनाइयां आती हैं। एक उसके अनुसार नैतिकता समुदाय विशेष तक सीमित हो जाती है। दो, हितों

का सामंजस्य अनुमान का तार्किक नियम नहीं है, न वह युक्ति का आधार वाक्य है। वह केवल एक संस्तुति मात्र है।

नव्य प्रकृतिवाद उपरोक्त कठिनाइयों से बचने का नवीनतम प्रयास हैं। वार्नाक के अनुसार नैतिकता का निर्धारण आकार से न होकर विशेष वस्तु से होता है। वह मानता है कि नैतिक निर्णय तथ्यात्मक कथनों के समान सत्य या असत्य होते है। नैतिक कथन वर्णनात्मक एवं संज्ञानात्मक होते हैं। किन्तु नैतिक कथनों में मूल्यात्मक तत्व भी होते हैं जिन्हें वर्णनात्मक अर्थ से पृथक नहीं किया जा सकता। तथ्यात्मक एवं नैतिक निर्णयों में कोई खाई या अन्तराल नहीं है। अतः तथ्यात्मक कथनों से नैतिक निर्णयों का निगमन संभव है। नव्य प्रकृतिवादी मानते है कि मनुष्य की इच्छायें-आवश्यकतायें तथा हित ही अन्तिम आधार है जिनके द्वारा ही नैतिक निर्णयों को प्रमाणित किया जा सकता है।

किन्तु हित की अवधारणा केवल तथ्यात्मक एवं तटस्थ अवधारणा नही है। इसी आधार पर नव्य प्रकृतिवादी सिद्धान्त में भी समस्यायें हैं।

अन्त में सातवें अध्याय में मैने इस प्रबन्ध का निष्कर्ष प्रस्तुत किया है। मैंने यह दिखाने का प्रयास किया है कि न केवल आकार के आधार पर, न केवल विषय के आधार पर नैतिकता का निश्चय हो सकता है। दोनों की सहायता से ही नैतिकता को निर्धारित किया जा सकता है। अतः इन दोनों तत्त्वों के द्वारा ही नैतिक तर्कना का वास्तविक स्वरूप समझा जा सकता है। किन्तु यहॉ भी पूर्णता का दावा नही किया गया है; केवल कुछ सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं।
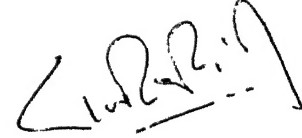
इस शोध प्रबन्ध के लिए सर्व प्रथम मै अपने पर्यवेक्षक डॉ० हरिशंकर उपाध्याय, रीडर दर्शन शास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय का आभारी हूँ /उनके कुशल निर्देशन के कारण ही यह दुरूह कार्य संभव हो पाया है। उनके स्नेह एवं मार्ग दर्शन को मात्र शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। डॉ० उपाध्याय के साथ मैं अपने पिता, प्रो० डी. एन. द्विवेदी एवं मां श्रीमती शान्ति द्विवेदी के स्नेह एवं सतत् परामर्श के लिए आभारी हूँ। मेरे भ्राता डॉ० पीयूष

द्विवेदी एवं भाभी डॉ० पूर्णेश्वरी द्विवेदी ने मुझे निरन्तर प्रोत्साहित किया है। मेरी पत्नी उषा ने भी अमूल्य सहयोग दिया है।

दर्शन शास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के गुरुजनों प्रो. जे. एस. श्रीवास्तव, प्रो. एस. के. सेठ, प्रो. राम लाल सिंह, प्रो. राजेन्द्र स्वरूप भटनागर, डॉ० सी.एल. त्रिपाठी, डॉ० मृदुला रवि प्रकाश, डॉ० नरेन्द्र सिंह, डॉ० गौरी चट्टोपाध्याय, डॉ० जटाशंकर त्रिपाठी एवं श्रीमती आशा लाल के प्रति मैं विनम्र आभार व्यक्त करता हूँ। मै आगरा कालेज के अपने अग्रज सहयोगियों डॉ० उमेश चन्द्र एवं डॉ० शेखरेन्दु मोहन मिश्र के प्रति भी अपना आभार व्यक्त करता हूँ। मै आगरा कालेज के प्रिसिपल डॉ० मुख्तार सिह के प्रति विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ जिन्होंने शोध प्रबन्ध लिखने के लिए केवल प्रेरित ही नहीं किया बल्कि समय समय पर अवकाश देने की कृपा की। डॉ० उमाकान्त शुक्ल के सहयोग के लिए मैं आभारी हूँ।

अन्त में इस प्रबंध के टंकण के लिए में श्री शलभ जायसवाल को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने इतने कम समय मैं इस कार्य को पूरा किया।

तिथि 8-8-99

राजीव द्विवेदी

विषय सूची

अध्याय–1

नैतिक भाषा के सन्दर्भ में अर्थ के विभिन्न सिद्धान्त

समकालीन पाश्चात्य नैतिक दर्शन में नियामक नीतिशास्त्र एवं अधिनीतिशास्त्र में स्पष्ट रूप से अन्तर किया गया है। नियामक नीतिशास्त्र के अन्तर्गत इस प्रकार के प्रश्न उठाए जाते हैं– शुभ क्या है? कौन सी वस्तुएं स्वतः शुभ है? कौन से कर्म शुभ हैं? किस प्रकार के कर्म उचित है? कौन से नियम उचित है? हमें क्या करना चाहिए? हमारे कर्तव्य क्या हैं? आदि। अधिनीतिशास्त्र का विषय ये प्रश्न नही है। इसके अन्तर्गत इन प्रश्नों पर विचार किया जाता है : 'शुभ' का अर्थ क्या है? 'उचित' का क्या अर्थ है? 'चाहिए' एवं 'कर्तव्य' का क्या अर्थ है? प्राचीन ***नीतिशास्त्र*** में भी दोनों प्रकार के प्रश्न मिलते है, किन्तु उनमें स्पष्ट रूप से भेद नही किया गया था। समकालीन दर्शन में प्रथम प्रकार के प्रश्नों का सम्बन्ध नैतिक कर्ता एवं नैतिक सुधारकों से सम्बन्धित माना जाता है। इन प्रश्नो, इनके उत्तरों तथा इनसे सम्बन्धित सिद्धान्तों को नियामक नीतिशास्त्र का विषय माना जाता है। इनकी भाषा को प्रथम-स्तरीय भाषा कहा गया है। समकालीन नैतिक दार्शनिकों का मत है कि इसका नैतिक दर्शन से कोई सम्बन्ध नहीं है। नैतिक दर्शन नैतिक संप्रत्ययों, नैतिक भाषा एवं नैतिक ***युक्तियों*** के अर्थ, स्वरूप एवं तार्किक विश्लेषण से सम्बन्धित है। आचरण के सम्बन्ध में यह पूर्णतः तटस्थ है।[1] नैतिक दर्शन नैतिकता के प्रथम स्तरीय भाषा का तार्किक विश्लेषण है। इस विद्या का ***बीज*** जी. ई. मूर की पुस्तक ***प्रिंसिपिया एथिका*** जो 1903 में प्रकाशित हुई थी, में मिलता है। मूर स्वयं इस मत का समर्थक नही है, किन्तु शुभ के सम्बन्ध में उसने जिस प्रकार के प्रश्न उठाये उन्हीं से अधिनीतिशास्त्र का विकास संभव हुआ। किन्तु एअर, स्टीवेंसन, हेअर, नाबेल स्मिथ, टूलमिन, ***फिलिप्पा*** फुट, डी जेड फिलिप्स, वार्नाक, अर्मसन आदि के स्पष्ट रूप से अधिनीतिशास्त्र को ही नैतिक दर्शन माना है। नियामक नीतिशास्त्र नैतिक दर्शन की विषय-वस्तु अवश्य प्रदान करता है किन्तु वह नैतिक दर्शन नहीं है।

नैतिक दर्शन के तीन महत्वपूर्ण प्रश्न हैं : नैतिक निर्णयों का अर्थ, स्वरूप एवं प्रमाणीकरण। प्रमाणीकरण की समस्या ही नैतिक तर्कना की समस्या है। प्रस्तुत प्रबन्ध में मेरा उद्देश्य विभिन्न नैतिक दर्शनों में नैतिक युक्तियों के स्वरूप का विवेचन एवं आलोचनात्मक मूल्यांकन है। किन्तु

इसके लिए नैतिक भाषा का विश्लेषण आवश्यक है। वास्तव में उपरोक्त तीनों प्रश्न एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। इनमें एक का समाधान अन्य दो के समाधानों से अनिवार्यतः सम्बद्ध है। उदाहरण के लिए, यदि कोई दार्शनिक मानता है कि शुभ का अर्थ सुख है तो स्पष्ट है कि वह नैतिक निर्णयों को तथ्यात्मक मानता है और उनके समर्थन में वैसी ही युक्तियाँ देता है जैसा तथ्यात्मक विज्ञानों में दी जाती है। यदि कोई दार्शनिक कहता है कि नैतिक निर्णयों का अर्थ केवल संवेगात्मक है तो वह नैतिक विवादों के समाधान के लिए केवल मनोवैज्ञानिक रूप से प्रभावी युक्तियॉ ही देगा जिनका वस्तुनिष्ठ तार्किक युक्तियों से कोई सम्बन्ध न होगा। इसी प्रकार प्रज्ञावादी सभी तर्कों का निपेध करेगा और केवल ***प्रज्ञा*** के आधार पर इनके ***ज्ञान*** का दावा करेगा। अतः नैतिक युक्तियों के स्वरूप पर विचार करने के पूर्व अर्थ से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्तों का विवेचन आवश्यक हो जाता है। यहाँ कहा जा सकता है कि अधिनीतिशास्त्र को प्रतीकात्मक भाषा में लिखा जा सकता है, किन्तु न तो अभी तक संतोषजनक रूप से इस भाषा का विकास हो पाया है, न यह भाषा साधारण नैतिक भाषा का स्थान ले सकती है। हम नैतिक निर्णय साधारण भाषा में ही देते हैं। अतः साधारण भाषा के स्तर पर ही नैतिक शब्दों एवं वाक्यों के अर्थ का निर्धारण किया जा सकता है। इसीलिये नैतिक दार्शनिकों ने साधारण भाषा से सम्बन्धित अर्थ-सिद्धान्तों को अपने विश्लेषण का आधार बनाया है। इस सम्बन्ध में हम अर्थ के निर्देशात्मक, सत्यापन, मनोवैज्ञानिक एवं प्रयोग सिद्धान्तों पर संक्षेप में विचार करेंगे।

(1) निर्देशात्मक सिद्धान्त

समकालीन नैतिक दर्शन का मुख्य प्रश्न है : नैतिक भाषा का क्या अर्थ है? इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर है कि सामान्यतः भाषा का क्या अर्थ है। विभिन्न दार्शनिकों ने विभिन्न अर्थ – सिद्धान्तों को स्वीकार किया है। प्रज्ञावादी दार्शनिक अर्थ के निर्देशात्मक सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं जो प्राचीनतम सिद्धान्त है। अतः सर्वप्रथम इसी सिद्धान्त का विवेचन अपेक्षित है। किन्तु इसके पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि हम अर्थ के किस अर्थ पर विचार कर

रहे हैं। आग्डेन और रिचर्ड्स[2] के अनुसार 'अर्थ' के तेइस अर्थ हैं। एक अन्य लेखक ने 'अर्थ' के इक्यावन अर्थ बताया है।[3] कुछ उदाहरण अधोलिखित हैं :–

1 जब आकाश में घने काले बादल हों तो हम कहते है : इसका अर्थ है कि बरसात होने वाली है। यहाँ बादलों एवं बरसात में कारणात्मक सम्बन्ध है।

2. जमीन में पैरों के चिन्ह हैं। इसका क्या अर्थ है? इसका कारण क्या है?

3. इसका अर्थ है युद्ध। अर्थात् इस स्थिति का परिणाम युद्ध है।

4. मेरा अर्थ बाजार जाना था। यहॉं अर्थ का प्रयोग अभिप्राय के लिए हुआ है।

5 इसका क्या अर्थ है? अर्थात् इसकी व्याख्या क्या है?

6. आय से अधिक व्यय का अर्थ है दिवालिया होना। यहॉं अर्थ का अर्थ आपादन है।

7. मेरे जीवन का कोई अर्थ नहीं है। यहाँ अर्थ का अर्थ प्रयोजन है।

दार्शनिक का सम्बन्ध अर्थ के इन अर्थों से नहीं है। उसका सम्बन्ध भाषाई शब्दों एवं वाक्यों से है। हम इस अध्याय में भाषाई प्रतीकों के अर्थ का विवेचन करेंगे।

निर्देशात्मक सिद्धान्त के अनुसार शब्द का अर्थ कोई वस्तु, गुण, क्रिया, सम्बन्ध आदि है। इसका सबसे अधिक स्पष्ट रूप व्यक्तिवाचक संज्ञा है: 'अरस्तू' का अर्थ अरस्तू है, 'फीडों' का अर्थ फीडो नाम का कुत्ता है।[4] यह विवाद का विषय है कि व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का कोई अर्थ होता है या नहीं, पर इसी मानक के आधार पर अन्य शब्दों के अर्थ की व्याख्या की जाती है : 'पेड़' का अर्थ पेड़ है, 'ईट' का अर्थ ईट है, 'दौड़ने' का अर्थ दौड़ने की क्रिया है, 'लाल' का अर्थ लाल रंग हैं, इत्यादि। प्रत्येक सार्थक शब्द किसी वस्तु, गुण, क्रिया आदि का निर्देश करता है। शब्द जिस वस्तु का निर्देश करता है वही वस्तु उसका अर्थ है। जिस शब्द द्वारा किसी वस्तु का निर्देश नहीं होता वह निरर्थक है। इसी आधार पर प्रज्ञावादी मानते हैं कि 'शुभ', 'उचित' आदि नैतिक शब्द एक सरल निर्प्राकृतिक गुण का निर्देश करते हैं जो इनका अर्थ है। निर्देशात्मक सिद्धान्त के इस सरल रूप के अतिरिक्त एक अन्य उन्नत रूप भी

है। रसेल[5] के अनुसार "जब हम पूँछते हैं कि अर्थ क्या है..... हम यह नहीं जानना चाहते कि कौन सी वस्तु अर्थ है, बल्कि शब्द एवं निर्दिष्ट वस्तु में क्या सम्बन्ध है।" इसका तात्पर्य यह है कि शब्द अर्थ का निर्देश करता है किन्तु शब्द का अर्थ वस्तु नहीं अपितु शब्द एवं निर्दिष्ट वस्तु का सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध ही अर्थ का निर्धारण करता है।[6] किन्तु निर्देशात्मक सिद्धान्त के दोनों रूपों में कठिनाईयॉ हैं। इनके अतिरिक्त एक अन्य सिद्धान्त हैं जिसका प्रतिपादन लुडविग विट्गेंस्टाइन ने *ट्रैक्टेट्स* मे किया है। उसके अनुसार प्रतिज्ञप्तियों का विश्लेषण सरल प्रतिज्ञप्तियो में होता है क्योंकि सरल प्रतिज्ञप्तियों मे ही निश्चित अर्थ संभव है। सरल प्रतिज्ञप्तियॉ नामों का संयोजन है।[7] केवल नामों का अर्थ होता है और नाम का अर्थ सरल वस्तु है।[8] सरल प्रतिज्ञप्ति में किसी अन्य प्रतीक का प्रयोग नही होता। मिश्र प्रतिज्ञप्तियों में नामों के अतिरिक्त सत्यता फलनात्मक चिन्हों का प्रयोग होता है किन्तु ये प्रतीक किसी वस्तु का निर्देश नहीं करते।[9] इसका अर्थ है कि सभी शब्द सार्थक नहीं हैं। वे किसी सरल वस्तु का निर्देश नहीं करते। ऐसे शब्द रसेल के शब्दों में संक्षिप्त वर्णन है। सभी शब्द सार्थक नहीं है, केवल नाम सार्थक है और नामों का अर्थ सरल वस्तुएं हैं। पर *फिलासाफिकल इन्वेस्टीगेशंस* में स्वयं विट्गेंस्टाइन ने निर्देशात्मक सिद्धान्तों का खण्डन किया है।

निर्देशात्मक सिद्धान्त के विरुद्ध प्रथम आपत्ति यह है कि सभी शब्दों का प्रयोग निर्देश करने के लिए नहीं होता। 'और', 'किन्तु', 'का' आदि सार्थक हैं किन्तु किसी वस्तु या गुण का निर्देश नहीं करते। दूसरी आपत्ति यह है कि जो शब्द किसी वस्तु का निर्देश करते हैं उनके अर्थ एवं निर्दिष्ट वस्तु में तादात्म्य नही हो सकता। यदि व्यक्ति वाचक नाम 'रा.न.' का अर्थ रा. न. व्यक्ति है तो जब हम कहते है कि रा. न. मर गया तो हम यह भी कह सकते हैं कि 'रा.न.' का अर्थ मर गया। किन्तु यह कथन निरर्थक है।[10] इसी प्रकार यदि रा.न. मर गया है तो 'रा.न.' नाम निरर्थक हो गया। अतः हम यह नहीं कर सकते कि 'रा.न. मर गया' सार्थक कथन है। किन्तु यहाँ आक्षेप किया जा सकता है कि यह उदाहरण उपयुक्त नहीं है क्योंकि व्यक्ति वाचक नामों का अर्थ नहीं होता। किन्तु यही कठिनाई अन्य नामों के लिए भी

है। यदि 'पत्थर' का अर्थ पत्थर है तो हम दोनों बातें कह सकते हैं; पत्थर टूट गया और 'पत्थर' का अर्थ टूट गया। किन्तु दूसरा कथन निरर्थक है। अतः निर्देशात्मक सिद्धान्त दोषपूर्ण है। तीसरा आक्षेप यह है कि दो शब्दों के अर्थ भिन्न-भिन्न होने पर भी उनके द्वारा एक ही वस्तु का निर्देश होता है।[11] ''मोतीलाल नेहरू का पुत्र'' एवं ''भारत का प्रथम प्रधान मंत्री'' एक ही व्यक्ति का निर्देश करते हैं। किन्तु इनके अर्थ पृथक हैं क्योकि मोती लाल नेहरू का पुत्र भारत का प्रथम प्रधानमंत्री था' पुनरुक्ति नही है। चौथी आपत्ति के अनुसार यह संभव है कि शव्द का अर्थ वही हो किन्तु निर्देश बदलता रहे जैसे 'प्रधानमंत्री', 'पिता', ''मैं', 'तुम' आदि।

उन्नत निर्देशात्मक सिद्धान्त में दो मुख्य कठिनाइयाँ हैं। एक शब्द के अर्थ के लिए निर्दिष्ट वस्तु का होना आवश्यक है तभी दोनों के सम्बन्ध की संभावना होती है, किन्तु अनेक शब्दों के अनुरूप निर्दिष्ट वस्तु नहीं होती। दूसरे, इतना ही पर्याप्त नहीं है कि शब्द एवं वस्तु में सम्बन्ध हो यह जानना भी आवश्यक है कि शब्द किस रूप में वस्तु से सम्बन्धित है।[12] उदाहरण के लिए यह जानना आवश्यक है कि शुभ वस्तु का वर्णन है या अनुमोदन है या कुछ अन्य। इसी प्रकार वट्गेंस्टाइन का *ट्रैक्टेटस* का सिद्धान्त भी दोषपूर्ण है। जैसा वह स्वयं *फि.इ.* में स्पष्ट करता है कोई वस्तु अपने आप में सरल या जटिल नहीं होती। एक सन्दर्भ में एक प्रयोजन की दृष्टि से वस्तुजटिल होती है, किन्तु दूसरे सन्दर्भ में भिन्न प्रयोजन की दृष्टि से वही वस्तु सरल मानी जाती है।[13] सरल वस्तु का संप्रत्यय भ्रामक एवं विशिष्ट पूर्व मान्यता का परिणाम है। इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि शब्द का अर्थ वस्तु या गुण नहीं है।

इस निर्देशात्मक सिद्धान्त का समकालीन पाश्चात्य नैतिक दर्शन पर दो रूपों में प्रभाव पड़ा है। एक रूप का प्रभाव प्रज्ञावादी दार्शनिकों जैसे मूर, रॉस, प्रिचर्ड आदि पर और दूसरे रूप का प्रभाव पूर्ववर्ती विट्गेंस्टाइन के विचारों पर पड़ा। इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए मूर का मत है कि 'शुभ' एक सरल, निर्प्राकृतिक गुण का निर्देश करता है। इस निर्दिष्ट गुण का ज्ञान न इन्द्रिय अनुभव से हो सकता है न बौद्धिक युक्तियों से इसका ज्ञान केवल प्रज्ञा से ही सम्भव है। इस प्रकार मूर शुभ के सम्बन्ध में संज्ञानवादी, वर्णनवादी एवं निर्प्राकृतिक प्रज्ञावाद

का समर्थन करता है। इसी प्रकार रॉस का मत है कि 'शुभ' और 'उचित' दोनों के द्वारा सरल निर्प्राकृतिक गुण का बोध होता है। उसका भी मत है कि शुभ और उचित का ज्ञान इन्द्रिय अनुभव और युक्तियों से नहीं हो सकता। केवल प्रज्ञा से ही इन दोनों का ज्ञान सम्भव है। किन्तु *ट्रेक्टेटस* में विट्गेंस्टाइन ने यह माना है कि सभी शब्द वस्तुओं का निर्देश नहीं करते। केवल नामों में ही निर्देश होता है। नाम एक अपरिभाषेय चिन्ह हैं जिसका अर्थ इसके द्वारा निर्दिष्ट सरल वस्तु है नामों का पारस्परिक संयोजन सरल प्रतिज्ञप्तिहै। सरल प्रतिज्ञप्ति का अर्थ वह सरल वस्तु स्थिति या अणु तथ्य है जिसका हम सरल प्रतिज्ञप्ति द्वारा वर्णन या चित्रण किया जाता है। सरल वस्तु स्थिति सरल वस्तुओं का क्रम वद्ध संयोजन है इसका अर्थ है कि जो कथन सरल वस्तु स्थिति का चित्र नही है अथवा पुनरुक्ति नही है वह निरर्थक है। अतः वह मानता है कि कोई भी मूल्यात्मक कथन किसी वस्तु स्थिति का वर्णन नहीं करता इसीलिए सभी मूल्यात्मक कथन निरर्थक हैं। 'शुभ', 'उचित', 'कर्तव्य' आदि न तो सरल नाम हैं न किसी वस्तु का निर्देश करते हैं। 'यह शुभ है', 'यह उचित है', 'यह हमारा कर्तव्य है' आदि कथन तथ्यात्मक नहीं है और इसीलिए निरर्थक हैं। विट्गेंस्टाइन[14] कहता है कि -"नैतिक प्रतिज्ञप्तियाँ असम्भव हैं। प्रतिज्ञप्तियॉ ऐसी किसी वस्तु में ज्ञप्ति नहीं कर सकती जो श्रेष्ठ हैं। यह स्पष्ट है कि नीति शास्त्र को शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। नीति शास्त्र अतीन्द्रिय है।" स्पष्ट है कि सार्थक भाषा वस्तु स्थितियों तक सीमित है नैतिक निर्णय मूल्यात्मक निर्णय है इनमें यह व्यक्त किया जाता है कि स्थिति कैसी होनी चाहिए न कि वस्तु स्थिति कैसी है चित्र सिद्धान्त के अनुसार भाषा तभी समर्थक होती है जव वह सत्ता से सम्बन्धित होती है किन्तु सत्ता वास्तविकता है। इसमें यह सम्मिलित नही है कि क्या होना चाहिए मूल्यात्मक निर्णय सत्ता से सम्बन्धित नहीं है अतः मूल्यात्मक निर्णय निरर्थक है।

(2)–सत्यापन सिद्धान्त

समकालीन पाश्चात्य नैतिक दर्शन में दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धान्त तार्किक भाववादियों का सत्यापन सिद्धान्त है। बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक के आरम्भ में *मारित्श श्लिक* ने वियना-मण्डल की स्थापना किया। इसके सदस्य दार्शनिक, वैज्ञानिक, गणितज्ञ, समाजशास्त्री आदि थे, जैसे वायसमान,

कार्नप, न्यूरथ, फील इत्यादि। विट्गेंस्टाइन इसका सदस्य नहीं था किन्तु श्लिक से उसका सम्बन्ध था एवं श्लिक के माध्यम से वियना मण्डल के विचारों पर *ट्रैक्टेटस* का प्रभाव पड़ा है। 1930 के आस-पास ए.जे. एअर ने इनकी गोष्ठियों में भाग लिया था। तार्किक भाववादियों के दो उद्देश्य थे; प्रथम तत्वमीमांसा एवं मूल्यात्मक कथनों को निरर्थक सिद्ध करना, द्वितीय वैज्ञानिक कथनों की सार्थकता स्थापित करना। इसके लिए उन्होने अर्थ के सत्यापन सिद्धान्त का प्रयोग किया। इसके अनुसार दो ही प्रकार के कथन शाब्दिक या संज्ञानात्मक रूप से सार्थक है : विश्लेषणात्मक कथन एवं सत्यापनीय तथ्यात्मक कथन। श्लिक ने इस सिद्धान्त का विवेचन इस प्रकार किया है :

"जब भी हम किसी वाक्य के सम्बन्ध में पूंछते हैं 'इसका क्या अर्थ है?' हम उन स्थितियों का वर्णन चाहते है जिनमें वाक्य सत्य प्रतिज्ञप्ति व्यक्त करता है और उनका भी जिनमें यह असत्य होगा प्रतिज्ञप्ति का अर्थ इसके सत्यापन की विधि cwÆ"[15] इस सिद्धान्त में एक कठिनाई स्पष्ट है। यदि प्रतिज्ञप्ति का अर्थ सत्यापन की विधि है। तो एक ही प्रतिज्ञप्ति का सत्यापन अनेक विधियों से होने के कारण उस प्रतिज्ञप्ति के एक से अधिक अर्थ हो जाएंगे। अतः एअर ने इससे भिन्न सत्यापन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। यह सिद्धान्त एक निकष निर्धारित करता है। जिससे बताया जा सके कि कोई कथन सार्थक है या निरर्थक, किन्तु यह इसका निर्धारण नहीं करता कि प्रतिज्ञप्ति का अर्थ क्या है। एअर के अनुसार "कथन शाब्दिक रूप में सार्थक हैं यदि और केवल यदि यह या तो विश्लेषणात्मक है या इन्द्रिय अनुभव द्वारा सत्यापनीय है"[16] शाब्दिक रूप से सार्थक का अर्थ है सत्य या असत्य होने की क्षमता। विश्लेषणात्मक कथन शब्दों की परिभाषा के आधार पर सत्य या असत्य सिद्ध होते है। यदि ये कथन पुनरुक्ति हैं तो सत्य हैं, यदि व्याघाती है तो असत्य हैं। अन्य कथन तभी सार्थक माने जा सकते हैं जब इन्द्रिय अनुभव से इन्हें सत्य या असत्य सिद्ध किया जा सके। सत्यापन के सम्बन्ध में दो कठिनाइयाँ आती हैं। प्रथम के अनुसार सत्यापन का निरूपण किस रूप में किया जाए। यदि सत्यापन का अर्थ वास्तविक रूप में सत्य या असत्य सिद्ध करना माना जाए तो अनेकों वैज्ञानिक कथन भी निरर्थक हो जाएंगे। श्लिक के अनुसार केवल व्यावहारिक सत्यापन

मानने पर "चन्द्रमा के दूसरी तरफ चट्टानें है" निरर्थक है क्योंकि उस समय तक चन्द्रमा पर जाने का कोई साधन नहीं था। अतः व्यावहारिक के साथ सैद्धान्तिक सत्यापन को भी सत्यापन का रूप माना गया। इसी प्रकार यदि निश्चित सत्यापन को ही एक मात्र सत्यापन का स्वरूप माना जाए तो सामान्य कथन निरर्थक हो जाएंगे। सामान्य कथनों का आकार है "सभी अ ब हैं।" इसका निश्चित सत्यापन तभी संभव है जब सभी अ का इन्द्रिय निरीक्षण संभव हो, किन्तु यह संभव नहीं है। अतः श्लिक[17] ने माना कि विज्ञानों के सामान्य कथन निरर्थक हैं यद्यपि विज्ञान के लिये ये महत्वपूर्ण हैं। स्पष्ट है कि यह समाधान उचित नहीं है। एअर ने *'लैंग्वेज, ट्रुथ एण्ड लाजिक'* के प्रथम संस्करण में यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि कोई भी कथन निश्चित या सबल अर्थ में सत्यापनीय नहीं है। उसके अनुसार सभी सार्थक कथन केवल निर्बल अर्थ में सत्यापनीय है। जिस कथन की प्रायिकता इन्द्रिय अनुभव से स्थापित की जा सके वह सार्थक हैं।[18] लैजरोविश[19] के अनुसार यदि सबल सत्यापन संभव नही है तो निर्वल सत्यापन निरर्थक है। इसके उत्तर में एअर ने अपनी पुस्तक के द्वितीय संस्करण में स्वीकार किया कि मूल प्रतिज्ञप्तियॉ जो केवल संवेदनों का निर्देश करती है सबल अर्थ में सत्यापनीय है तथा सभी वर्णनात्मक कथन निर्वल अर्थ में। इसी बात को एअर ने प्रत्यक्ष एवं परोक्ष सत्यापन में भेद करके और अधिक स्पष्ट किया। कोई कथन प्रत्यक्ष रूप में सत्यापनीय है यदि वह निरीक्षण कथन है किन्तु कथन परोक्ष रूप से सत्यापनीय है यदि उसे एक या अधिक कथनों से संयुक्त करने पर इस संयुक्त कथन से एक निरीक्षण कथन का निगमन किया जा सके जो केवल जोड़े गये अन्य कथनों से निगमित न हो सके। किन्तु वर्लिन[20] ने दिखाया कि इस संशोधित रूप में तत्वमीमांसा के कथन भी सार्थक हो जाएंगे। अतः एअर ने *लैंग्वेज, ट्रुथ एण्ड लाजिक* के द्वितीय संस्करण में इसमें परिवर्तन किया। अब उसका मत है कि अन्य आधार वाक्य या तो विश्लेषणात्मक हों या प्रत्यक्ष रूप में सत्यापनीय हों या स्वतंत्र रूप में परोक्षतः सत्यापनीय हों।[21] किन्तु ए. चर्च[22] ने एक सूत्र दिया :

$(\sim\text{नि}_1\ \ \text{नि}._2)\ V(\text{नि}._3\sim\text{वा})$

इस सूत्र में नि$_1$, नि$_2$ एवं नि$_3$ निरीक्षण कथन हैं एवं एक दूसरे से स्वतंत्र हैं तथा वा. कोई भी कथन हो सकता है। इस सूत्र की सहायता से किसी भी कथन को परोक्षरूप में

सत्यापनीय एवं सार्थक सिद्ध किया जा सकता है। बाद में एअर ने स्वयं स्वीकार किया कि सत्यापन सिद्धान्त का संतोषजनक विवरण असंभव है।[23]

द्वितीय कठिनाई सत्यापन सिद्धान्त के स्वरूप से सम्बन्धित है। क्या यह सिद्धान्त अर्थ का कोशीय रूप बताता है या केवल नवीन, ऐच्छिक परिभाषा का प्रतिपादन करता है? स्पष्ट है कि यह कोशीय अर्थ की सूचना नहीं देता। सामान्यतः तत्वमीमांसीय कथनों को निरर्थक नहीं माना जाता। एअर ने ***लाजिकल पाजिटिविज्म*** में माना है कि सत्यापन एक नवीन सिद्धान्त की प्रस्तावना है जिसे मानने के लिए किसी को बाध्य नहीं किया जा सकता है।[24]

सत्यापन सिद्धान्त में अनेको कठिनाइयाँ है। मै यहाँ कुछ मुख्य कठिनाइयों का संक्षेप में विवेचन करुँगा। प्रथम प्रश्न है कि सत्यापन किसका होता है? तार्किक भाववादी दार्शनिक प्रतिज्ञप्तियों का सत्यापन मानते है किन्तु प्रतिज्ञप्ति वाक्य का अर्थ है। अतः अर्थ के रूप में प्रतिज्ञप्ति को सार्थक या निरर्थक नहीं कहा जा सकता। एअर ने ***'लैंग्वेज, ट्रुथ एण्ड लाजिक'*** में कथन को स्वीकार किया है, किन्तु कथन वास्तव में प्रतिज्ञप्ति ही हैं। वाक्य को भी सत्यापन का विषय नहीं कहा जा सकता क्योंकि वाक्य सार्थक या निरर्थक हो सकता है, किन्तु वाक्य को सत्य या असत्य नहीं माना जाता और सत्यापन सत्य या असत्य से सम्बन्धित है।

दूसरी कठिनाई इन्द्रिय अनुभव के विषय से सम्बन्धित है। न्युरथ एवं बाद में कार्नप ने विषय-कथनों को सत्यापनीय माना है। उदाहरण केलिए "मेरे सामने मेज है" का सत्यापन देख कर या / और छूकर किया जाता है। किन्तु एअर ने विषयों के स्थान पर इन्द्रिय प्रदत्तों को सत्यापन का आधार माना है। उसके अनुसार विषय इन्द्रिय-प्रदत्तों की तार्किक संरचनायें हैं एवं वस्तु-सूचक कथनों का अनुवाद इन्द्रिय-प्रदत्त कथनों में हो जाता है।[25] मेरा उद्देश्य इस विवाद का विवेचन नहीं है। मै केवल इस बात का संकेत करना चाहता हूँ कि सत्यापन सिद्धान्त में यह समस्या एक गंभीर चुनौती है। साथ ही इन्द्रिय प्रदत्तों को आधार मान लेने पर अनुभव व्यक्तिगत हो जाता है एवं अहंमात्र की समस्या भी आ जाती है।

तीसरी कठिनाई यह है कि सत्यापन का प्रश्न सार्थक रूप से उन्हीं सन्दर्भों में उठाया जा सकता है जहाँ कोई विवाद या संशय हो। सभी सन्दर्भों में सत्यापन का प्रश्न उठाना सत्यापन का मिथ्या प्रयोग है।

चौथी कठिनाई का संकेत विट्गेंस्टाइन[26] ने किया है। भाषा का कार्य केवल वर्णन करना नहीं है। भाषा के अनेकों कार्य होते हैं जैसे प्रश्न करना, उत्तर देना, चेतावनी देना, परामर्श देना, आदेश देना इत्यादि। इन सभी प्रयोगों पर सत्यापन की कसौटी का प्रयोग नहीं हो सकता, न इन प्रयोगों को निरर्थक या मात्र संवेगात्मक माना जा सकता है। सत्यापन सिद्धान्त अर्थ के सम्बन्ध में केवल नवीन प्रस्तावना ही नही है बल्कि सार्थक भाषा के क्षेत्र को मनमाने ढंग से संकुचित भी कर देता है। यही कारण है कि विश्लेषणात्मक दार्शनिकों ने सत्यापन के स्थान पर प्रयोग को अर्थ का निर्धारक माना है।

सत्यापन सिद्धान्त के प्रकाश में नैतिक भाषा का क्या स्वरूप है? स्पष्ट है कि नैतिक निर्णय सार्थक कथन नहीं हो सकते न ये निर्णय विश्लेषणात्मक हैं न इन्हें इन्द्रिय अनुभव द्वारा सत्यापित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए ''अ शुभ है'' विश्लेषणात्मक नहीं है। 'अ' का अर्थ 'शुभ' नहीं हो सकता। 'अ' और 'शुभ' समानार्थक नही है। किन्तु शुभ इन्द्रियों द्वारा ज्ञेय नहीं है। इसे न देखा जा सकता है, न चखा जा सकता है, न सुना जा सकता है, न इसका स्पर्श हो सकता है। अतः ''अ शुभ'' है का सत्यापन भी संभव नही है। इसीलिए श्लिक, कार्नप, एअर आदि ने नैतिक निर्णयों को शाब्दिक रूप में निरर्थक माना है। किन्तु तार्किक भाववादियों का मत है कि नैतिक निर्णयों में संवेगात्मक अर्थ होता है। नैतिक निर्णय वक्ता के संवेगों की अभिव्यक्तियॉ है। इनके द्वारा संवेगों का वर्णन नहीं होता, इन्हें सत्य या असत्य नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि यदि दो व्यक्तियों के संवेगों में अन्तर हो तो उसे तर्कों द्वारा समाप्त नहीं किया जा सकता। नैतिक निर्णयों की संवेगात्मक व्याख्या पूर्णतः अनुपयुक्त है। सत्यापन सिद्धान्त न तो नैतिक निर्णयों का स्वरूप स्पष्ट कर पाता है, न नैतिक युक्तियों

के तार्किक स्वरूप को। इसलिए संवेगवाद के प्रबल समर्थक सी.एल. स्टीवेंसन[27] ने सत्यापन को अपने विवेचन का आधार न मानकर अर्थ का मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त प्रस्तुत किया है।

अर्थ का मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त

एअर के समान स्टीवेंसन भी मानते है कि नैतिक भाषा में संवेगात्मक अर्थ होता है, किन्तु उनकी मान्यता है कि नैतिक भाषा में संवेगात्मक एवं वर्णनात्मक दोनों अर्थ होते हैं। अपनी पुस्तक ***एथिक्स एण्ड लैंग्वेज*** (1944) तथा ***'माइण्ड'*** में प्रकाशित अनेक लेखों में स्टीवेंसन ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि नैतिक भाषा में मुख्य रूप से संवेगात्मक एवं गौण रूप से वर्णनात्मक अर्थ होता है। इसी आधार पर वह नैतिक शब्दों एवं निर्णयों का अर्थ स्पष्ट करता है तथा नैतिक युक्तियों के स्वरूप की व्याख्या करता है। पर सर्व प्रथम यह समझ लेना आवश्यक है कि वह अर्थ के किस सिद्धान्त को स्वीकार करता है। स्टीवेंसन ने मूर, रॉस आदि प्रज्ञावादियों एवं प्रकृतिवादियों के निर्देशात्मक अर्थ सिद्धान्त का खण्डन किया है। वह मानता है कि सभी शब्द वस्तुओं अथवा गुणों का निर्देश नहीं करते। जो शब्द वस्तुओं का निर्देश भी करते हैं वहॉ भी अर्थ का सम्बन्ध "किस प्रकार से" अधिक होता है। स्टीवेंसन के अनुसार शब्दों के अर्थ दो प्रकार के होते है : वर्णनात्मक या संज्ञानात्मक एवं संवेगात्मक। उसका मत है कि संवेगात्मक अर्थ में कुछ भी अनुचित नहीं है। वह उतना ही महत्वपूर्ण है जितना वर्णनात्मक अर्थ, संवेगात्मक अर्थ तव अनुचित माना जा सकता है जव इसका दुरुपयोग होता है।[28] उसका यह भी मत है कि वर्णनात्मक एवं संवेगात्मक अर्थ दो पृथक क्रियाओं के परिणाम नहीं हैं। वे एक ही प्रक्रिया के दो भिन्न पक्ष हैं :

"भाषा में संवेगात्मक एवं वर्णनात्मक प्रवृत्तियों की उत्पत्ति दो पृथक प्रक्रियाओं का प्रतिनिधित्व नहीं करती। (उनमें) सतत् सम्बन्ध बना रहता है।'[29] "संवेगात्मक एवं वर्णनात्मक अर्थ, अपनी उत्पत्ति एवं व्यावहारिक क्रियाओं में, एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होते हैं। वे एक सम्पूर्ण स्थिति के विज्ञेय (डिस्टींग्वीशेबल) पहलू होते हैं, उसके 'अंग' नहीं जिनका अलग-अलग अध्ययन किया जा सके।"[30]

स्टीवेसन इन दोनों प्रकार के अर्थों की व्याख्या अपने मनोवैज्ञानिक अर्थ सिद्धान्त के अनुसार करताहै। इस सिद्धान्त के अनुसार अर्थ शब्दों एवं वाक्यों की प्रवृत्ति (डिस्पोजीशन) है। अर्थ चिन्हों (शब्द,वाक्य) की वह प्रवृत्ति है जो कुछ मानसिक अवस्थाओं, प्रक्रियाओं को उत्पन्न करती है या उनके द्वारा उत्पन्न होती है। श्रोता के दृष्टिकोण से यह –

"..चिन्ह का प्रवृत्तिमूलक गुण है, जहाँ प्रतिक्रिया, परिवर्तनशील परिस्थितियों के साथ परिवर्तित होती हुई श्रोता में उत्पन्न मानसिक प्रक्रियाओं में निहित है, और जहॉ चिन्ह का श्रवण उत्तेजना है।'[31]

वक्ता के दृष्टिकोण से उत्तेजना प्रतिक्रिया हो जाती है तथा प्रतिक्रिया उत्तेजना। अर्थात् शब्द या वाक्य का अर्थ मनोवैज्ञानिक अवस्था या प्रक्रिया से सम्बन्धित होता है। अर्थ शब्द या वाक्य की प्रवृत्ति या गुण है वक्ता या श्रोता का नहीं, किन्तु इसका सम्बन्ध वक्ता या श्रोता की मनोवैज्ञानिक अवस्था से है। उदाहरण के लिए शब्द सुनकर श्रोता के मन में कुछ प्रतिक्रिया होती है। शब्द का सुनना उत्तेजना है एवं मानसिक अवस्था प्रतिक्रिया। यही प्रतिक्रिया शब्द का अर्थ है। वक्ता में मानसिक अवस्था पहले है जो शाब्दिक अभिव्यक्ति का कारण होती है। संक्षेप में श्रोता के लिए शब्द को सुनकर मन में जो मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया होती है वही शब्द का अर्थ है। पारिभाषिक रूप में यह कहना अधिक उपयुक्त है कि अर्थ भाषाई अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति है जिससे मानसिक प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है अथवा जो मानसिक क्रिया के परिणाम स्वरूप संभव होता है। इस प्रकार की मानसिक अवस्थायें, स्टीवेंसन के अनुसार, दो प्रकार की होती है। अतः अर्थ भी दो प्रकार के होते हैं : संवेगात्मक एवं वर्णनात्मक। स्टीवेंसन के अनुसार संवेगात्मक अर्थ "वह अर्थ है जिसमें प्रतिक्रिया (श्रोता के दृष्टिकोण से) या उत्तेजना (वक्ता के दृष्टिकोण से) संवेगों का क्षेत्र है।"[32] वर्णनात्मक अर्थ शब्द या अभिव्यक्ति की वह प्रवृत्ति है "जिससे संज्ञानात्मक मानसिक प्रक्रियायें उत्पन्न होती हैं।"'[33]

शब्द का वर्णनात्मक अर्थ बड़ी सीमा तक निश्चित एवं सुस्पष्ट किया जा सकता है। उदाहरण के लिए 783 एवं 784 के वर्णनात्मक अर्थ पृथक पृथक हैं। प्रश्न है कि केवल उत्तेजना एवं

प्रतिक्रिया के आधार पर बिना चक्रक दोष किये इन शब्दों में किस प्रकार अन्तर किया जा सकता है? 783 की प्रतिक्रिया 784 की प्रतिक्रिया से किस प्रकार भिन्न है? क्या हम यही नहीं कहते कि 783 एवं 784 से सम्बन्धित विश्वास भिन्न हैं? पर यहाँ विश्वास का उल्लेख आवश्यक हो जाता है। इस कठिनाई से बचने के लिए स्टीवेंसन भाषाई नियमों की सहायता लेता है। उसके अनुसार ''भाषाई नियम वे नियम हैं जो प्रतीकों को एक दूसरे से सम्बन्धित करते है।''[34] इन नियमों के द्वारा प्रतीकों के सम्पूर्ण ढांचे के अन्तर्गत् किसी विशेष प्रतीक का निश्चित एवं स्पष्ट स्थान निश्चित हो जाता है। इन्ही के द्वारा सम्पूर्ण जटिलताओं के होते हुए भी प्रतीक का निश्चित अर्थ संभव होता है। इन्ही नियमों के आधार पर प्रतीक के शाब्दिक अर्थ एवं उसके सांकेतिक अथवा लाक्षणिक अर्थ में भी अन्तर संभव होता है। स्टीवेंसन के अनुसार भाषाई नियम ''निश्चित प्रक्रियायें है जिनका निर्धारण केवल स्मृति या लिखित सारणियों द्वारा होता है जिसमें हम एक प्रतीक से दूसरे प्रतीक तक यान्त्रिक रूप से जा सकते हैं।''[35] वह मानता है कि ''ये नियम किसी भी रूपमें प्रारम्भ से ही अर्थ का निर्धारण करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं, इनके द्वारा केवल अन्य विधियों से विकसित अस्पष्ट अर्थों को निश्चित स्वरूप प्रदान किया जाता है।''[36] ये अन्य विधियां क्या हैं? ये अनुकूलन की विधियॉ हैं जिनके द्वारा मनोवैज्ञानिक घटनाओं के कारण या कार्य के रूप मे अभिव्यक्तियों की प्रवृत्तियों की उत्पत्ति होती है। वर्णनात्मक अर्थ की पूर्ण परिभाषा इस प्रकार है :

''संज्ञान उत्पन्न करने की प्रवृत्ति बशर्ते प्रवृत्ति का कारण अनुकूलन की व्यापक प्रक्रिया है जो संप्रेषण में चिन्ह के निरन्तर प्रयोग से संभव होती है, और बशर्ते यह प्रवृत्ति भाषाई नियमों द्वारा पर्याप्त मात्रा तक निश्चित हो जाती है।''[37]

स्टीवेंसन के अनुसार शब्दों का संवेगात्मक अर्थ ''अच्छी तरह समझा जा सकता है यदि इसकी तुलना हंसी, उच्छ्वास, कराहना तथा संवेगों की अन्य अभिव्यक्तियों से की जाए जब इनकी अभिव्यक्ति आवाज या चेष्टाओं से होती है।''[38] 'शाबास' जैसे शब्द हंसी या कराहने के समान संवेगों को व्यक्त करते है किन्तु स्टीवेंसन यह भी मानता है कि यह सादृश्य सभी

संवेगात्मक शब्दों के लिए सत्य नही है। कुछ शब्दों की संवेगात्मक शक्ति ''इन शब्दों के प्रयोग के इतिहास के साथ विकसित परम्पराओं पर निर्भर करती है।''[39] संवेगात्मक अर्थ भी अनकूलन पर निर्भर है। स्टीवेंसन के अनुसार :

''शब्द का संवेगात्मक अर्थ वह शक्ति है जिसे यह शब्द संवेगात्मक स्थितियों में बार-बार प्रयुक्त करने पर अभिवृत्ति जाग्रत करने या व्यक्त करने के रूप में प्राप्त करता है, न कि उनका निर्देश करने के लिए।''[40]

''सवेगात्मक शब्द दीर्घ काल तक अनुकूलन की व्यापक प्रक्रिया का उपयोग करता है जिससे इसे संवेगात्मक प्रवृत्ति प्राप्त होती है।''[41]

स्पष्ट है कि दोनों अर्थों में अनुकूलन की प्रक्रिया निहित होती है। पर दोनों में अन्तर है। संवेगात्मक अर्थ संवेगात्मक प्रवृत्तियॉ हैं जवकि वर्णनात्मक अर्थ संज्ञानात्मक प्रवृत्ति है। वर्णनात्मक अर्थ के साथ भाषाई नियम भी होते हैं जिनके आधार पर अर्थ एवं संकेत में अन्तर किया जाता है। संवेगात्मक अर्थ में भाषाई नियम नहीं होते। उनका संकेत ही संवेगात्मक अर्थ है। ऐसे शब्द ''संकेत के लचीले उपकरण''[42] के रूप में कार्य करते हैं। इन अर्थों का भेद स्पष्ट करने के लिए स्टीवेंसन ने स्वतंत्र एवं आश्रित संवेगात्मक अर्थों में भेद किया है तथा संज्ञानात्मक एवं संवेगात्मक अर्थों का अन्तर स्पष्ट करने के लिए विश्लेषण के दो रूपों का प्रयोग भी किया है। हम इनका विवेचन उपयुक्त स्थान पर करेगे।

अब प्रश्न है कि क्या अर्थ के विषय में स्टीवेंसन का सिद्धान्त उपयुक्त है। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में अनेकों आक्षेप किये गये है। सर्व प्रथम उसका मत कि वर्णनात्मक अर्थ अनुकूलन के साथ भाषाई नियमों से नियंत्रित होते हैं, किन्तु संवेगात्मक अर्थ का भाषाई नियमों से कोई सम्बन्ध नहीं होता पूर्णतः अनुपयुक्त है। उसने संवेगात्मक अर्थ को केवल संकेत या सुझाव माना है। किन्तु सुझाव का प्रयोग दो रूपों में होता है : एक मात्र मनोवैज्ञानिक सह-सम्बन्ध के रूप में और दूसरा वर्णनात्मक अर्थ के परिणाम या आपादन के रूप में। निश्चित रूप से प्रथम अर्थ का भाषाई नियमों से कोई सम्बन्ध नहीं है। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति के लिए लाल रंग

रक्त का सुझाव दे सकता है। यहॉ मनोवैज्ञानिक रूप से लाल रंग एवं रक्त में कारणात्मक संबंध है। किन्तु यहाँ लाल का अर्थ रक्त नही है। दूसरे अर्थ में संकेत या सुझाव का सम्बन्ध भाषाई नियमों पर निर्भर है। "मेरा सुझाव है..." एक सम्पादनात्मक कार्य है और जैसा आस्टिन, सर्ल आदि ने दिखाया है, सम्पादनात्मक कार्य भाषाई नियमों, रूढ़ियों एवं वक्ता के अभिप्राय पर निर्भर होते हैं। इस दूसरे प्रयोग को ही अर्थ कहा जा सकता है। किन्तु स्टीवेंसन अपनी सुविधा के अनुसार दोनो को मिला देता है। प्रथम अर्थ मे सवेगात्मक अर्थ संभव ही नही है।[43] सर्ल ने विस्तृत रूप में दिखाया है कि, उदाहरण के लिए, 'हेलो' स्वागत सूचक शब्द है और इसके प्रयोग की उपयुक्त परिस्थितियॉ एवं भाषाई नियम हैं।[44] इसी प्रकार भाषाई नियमों के सम्बन्ध में उसका मत बहुत ही संकुचित एवं एकांगी है। नियमों से उसका तात्पर्य केवल उन नियमों से है जिनके द्वारा एक प्रतीक को अन्य प्रतीकों से सम्बन्धित किया जाता है। ऐसे नियम केवल वाक्य विन्यास से सम्बन्धित है। इन्हें अंग्रेजी भाषा में सिन्टेक्टिक नियम कहते हैं। किन्तु शब्दों एवं वाक्यों के लिए अर्थ से सम्बन्धित नियम या सिमैन्टिक नियम भी आवश्यक होते है। स्टीवेंसन ने इनकी उपेक्षा की है। यह भी सत्य है कि भाषाई नियम इतने कठोर नही होते जितने गणित के नियम। जव स्टीवेंसन कहता है कि संवेगात्मक शव्द अस्पस्ट होते हैं, अतः वे भाषाई नियमों से नियंत्रित नही होते तो उसके मन में गणित के नियम ही हैं। किन्तु नियम वैसे ही अस्पष्ट हो सकते हैं जैसे संवेगात्मक अर्थ। अर्थ को भाषाई नियमों से अनियंत्रित कहना उचित नहीं है। एक अन्य कठिनाई यह है कि स्टीवेंसन वर्णनात्मक एवं संवेगात्मक दोनों अर्थों को मानसिक अवस्थाओं एवं प्रक्रियाओं से सम्बन्धित प्रवृत्ति मानता है। किन्तु अर्थ सीखा जाता है, अर्थ का विस्मरण हो सकता है, अर्थ का सही या गलत ज्ञान हो सकता है, और हम अर्थ के सम्बन्ध में भूल कर सकते है। यही बाते नियमों के लिए भी सत्य हैं। किन्तु इसका क्या अर्थ है कि प्रवृत्तियाँ सीखी जाती हैं? प्रवृत्तियों का विस्मरण होता है? स्पष्ट है कि प्रवृत्ति अर्थ नहीं है, न मानसिक प्रतिक्रिया ही अर्थ है। एक वाक्य भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न प्रभाव उत्पन्न कर सकता है, पर वाक्य का एक निश्चित अर्थ होता है। मानसिक प्रवृत्तियों के साथ वाक्य या शब्द के अर्थ में परिवर्तन नहीं होता। डब्लू.डी. हडसन[45]

के अनुसार यदि अ ब को आदेश देता है : बाहर निकलो, और ब उसके आदेश का पालन नहीं करता तो इस वाक्य का कोई अर्थ नहीं होता है क्योंकि स्टीवेंसन के अनुसार ''बाहर निकलो'' का अर्थ बाहर निकलता है। किन्तु ''बाहर निकलने' का एक ही अर्थ होता है चाहे आदेश का पालन किया जाए या उल्लंघन। यह भी नही हो सकता कि आज्ञा पालन करने पर इसका एक अर्थ होगा और उल्लंघन करने पर दूसरा अर्थ। मानसिक प्रभाव, आस्टिन[46] के अनुसार पर्लोक्युशनरी ऐक्ट के अन्तर्गत आता है और इसका अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वास्तव में अनुकूलन की प्रक्रिया एवं भाषाई नियम दोनों से मिलकर अर्थ का निर्धारण नहीं होता। अर्थ का सम्बन्ध नियमों से है, अनुकूलन की क्रिया से नहीं। अनुकूलन कारणात्मक क्रिया है, किन्तु अर्थ तार्किक क्रिया। अर्थ का स्पष्टीकरण नियमों एवं रुढ़ियों से होता है न कि मानसिक प्रतिक्रियाओं से।

अब हमें देखना है कि स्टीवेंसन किस प्रकार अपने मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के आधार पर नैतिक शब्दों एवं निर्णयों का विवेचन करता है। उसका मत है कि 'शुभ', 'उचित' आदि का मुख्य रूप से संवेगात्मक एवं गौण रूप से वर्णनात्मक अर्थ होता है। वर्णनात्मक अर्थ के कारण नैतिक शब्द शुद्ध संवेगात्मक शब्दों से भिन्न होते हैं, एवं संवेगात्मक होने के कारण केवल वर्णनात्मक शब्दों से। स्टीवेंसन का यह मत उपयुक्त है कि नैतिक शब्द या निर्णय केवल वर्णन नहीं करते। उसका यह विचार भी सत्य है कि नैतिक निर्णयों का प्रयोग कभी-कभी दूसरों को प्रभावित करने के लिए किया जाता है। किन्तु उसका अर्थ का मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त निश्चित रूप से गलत है। इसी सिद्धान्त के कारण उसकी नैतिक युक्तियों की व्याख्या भी भ्रामक एवं अनुपयुक्त हो जाती है।

अर्थ का प्रयोग सिद्धान्त

उत्तरवर्ती विट्गेंस्टाइन ने *फिलॉसाफिकल इन्वेस्टीगेशंस*[47] एवं आस्टिन ने *हाउ टु डू थिंग्स विद वर्ड्स*[48] में अर्थ से सम्बन्धित प्रयोग सिद्धान्त को स्वीकार किया है जिसका प्रभाव हेअर, नावेल स्मिथ, टूलमिन, अर्मसन, फिलिप्पा फुट, वार्नाक, आदि नैतिक दार्शनिकों पर पड़ा है। इसी सिद्धान्त के आधार पर उन्होंने नैतिक शब्दों, निर्णयों एवं युक्तियों का विवेचन किया है। इस

सिद्धान्त का प्रारम्भिक स्पष्टीकरण विट्गेंस्टाइन ने किया, किन्तु इसका सैद्धान्तिक विवेचन आस्टिन एवं सर्ल ने किया है। विट्गेस्टाइन ने *'ट्रैक्टेटस'* में मुख्य रूप से तीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था :

(1) नाम का अर्थ वस्तु हैं।

(2) अर्थ की क्रिया मानसिक क्रिया है।

(3) भाषा मूलतः वर्णनात्मक है।

किन्तु *ब्लु एण्ड ब्राउन बुक्स* एवं *फिलॉसाफिकल इन्वेस्टीगेशंस* में वह इन सिद्धान्तों का खण्डन करता है। शब्द का अर्थ वस्तु नही है। इसी प्रकार अर्थ मानसिक क्रिया नहीं है। वह कहता है :

"अर्थ को मानसिक क्रिया कहने से अधिक गलत अन्य कुछ नहीं है।"[49]

उसके अनुसार यदि शब्द या वाक्य का अर्थ हमारी मानसिक क्रिया पर निर्भर है तो हम किसी वाक्य से कोई अर्थ व्यक्त कर सकते हैं। उदाहरण के लिए 'अ-ब-स' का अर्थ मौसम सुहाना है हो सकता है। पर क्या यह संभव है?[50] इसी प्रकार यदि विचार मन में है और भाषा केवल अभिव्यक्ति का माध्यम है तो यह संभव होना चाहिए कि हमारे मन में विचार हो किन्तु शब्दों का अभाव हो। उदाहरण के लिए सोचिये कि कल पानी वरसेगा किन्तु मन में इन शब्दों का प्रयोग न हो। क्या यह निरर्थक नही है।[51] तब अर्थ क्या है? विट्गेंस्टाइन कहताहै :

"अधिकतर स्थितियों में-यद्यपि सभी के लिए नहीं–जिनमें हम 'अर्थ' का प्रयोग करते हैं, इसकी परिभाषा हो सकती है : शब्द का अर्थ भाषा में इसका प्रयोग है।'[52]

विट्गेंस्टाइन के अनुसार शब्द औजारों की तरह हैं : "भाषा औजार है। इसके संप्रत्यय औजार हैं।" [53] जैसे औजारों के विभिन्न व्यापार हैं वैसे ही शब्दों एवं वाक्यों के अनेकों कार्य हैं। वह लिखता है[54] :

परन्तु वाक्य कितने प्रकार के होते है?–उदाहरणार्थ– : अभिकथन, प्रश्न, और आदेश? –अनगिनत प्रकार के होते है : ''प्रतीकों'' के, ''शब्दों'' के , ''वाक्यों'' के अनगिनत विविध प्रयोग होते हैं। और यह अनेकता सदा के लिए निश्चित नहीं होती; अपितु कहा जा सकता है कि भाषा के नये प्रकारों का, नए भाषा खेलों का उद्भव होता है, और उनमें से कुछ अप्रचलित हो जाते हैं और इसीलिए विस्मृत हो जाते हैं। (गणित में हुए परिवर्तनों से हमें इसका धुंधला चित्र मिल सकता है।)

यहाँ ''भाषा-खेल'' पद तो इस तथ्य की प्रमुखता दर्शाने के लिए हैं कि भाषा बोलना एक क्रिया-कलाप है, या फिर एक जीवन-पद्धति का भाग है, निम्न लिखित एवं अन्य उदाहरणों में भाषा-खेलों की अनेकता का पुनरावलोकन कीजिए :

आदेश देना, और उनका पालन करना—

किसी वस्तु के रूप का विवरण देना, या उसका नाप देना,–

किसी वस्तु को उसके विवरण से (ड्राइंग से) बनाना–

किसी घटना का वर्णन करना–

किसी घटना के बारे में अनुमान करना–

किसी प्राक्कल्पना की रचना और उसकी परीक्षा करना किसी प्रयोग के परिणामों को सारणियों तथा रेखाचित्रों में प्रस्तुत करना–

कोई कहानी बनाना, और उसे सुनाना–

अभिनय करना–

अन्त्याक्षरी करना–

पहेलियाँ बुझाना–

व्यावहारिक गणित के सवाल हल करना–

एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करना–

मांगना, धन्यवाद देना, बुरा-भला कहना, अभिवादन करना, प्रार्थना करना।'–

इतना ही नहीं वर्णन के भी अनेक रूप हो सकते है :

वर्णन कही जाने वाली विभिन्न स्थितियों पर विचार कीजिए : ''किसी वस्तु की स्थिति का उसके आयामों द्वारा वर्णन; किसी चेहरे की अभिव्यक्ति का वर्णन, स्पर्श संवेदना का वर्णन, भाव का वर्णन,''[55] प्रायः हम मान लेते हैं कि बाहर से भले ही अस्पस्टता एवं अनिश्चितता हो किन्तु वास्तव में उसी में सार तत्व छिपा रहता है। विट्गेंस्टाइन के अनुसार यह केवल पूर्वधारणा का परिणाम है। इसीलिए वह कहता है : ''सोचो मत, देखो''। जो व्यक्ति दार्शनिक उलझन में जकड़ा होता है वह सर्वत्र निश्चित नियम देखना चाहता है। इस अवधारणा से बचने के लिए विटगेंस्टाइन भाषा-खेल की अवधारणा को अपनाता है। भाषा के विभिन्न प्रयोग विभिन्न प्रकार के भाषा-खेल हैं। प्रत्येक के अपने नियम एवं स्थितियाँ हैं। एक का निकष दूसरों का विवेचन नहीं कर सकता। इसका स्पष्टीकरण 'खेल' शब्द से किया जा सकता है। 'खेल' का प्रयोग अनेकों खेलों के लिए होता है। क्या कोई एक विशेषता इन सभी खेलों में होती है जिसे 'खेल' का सार या अर्थ कहा जा सके? हाकी, फुटवाल, पोलो, ताश, कबड्डी आदि में क्या समान है? दो टीमों या खिलाड़ियों का होना भी आवश्यक नहीं। कोई बच्चा गेंद से अकेले ही खेल सकता है। तव 'खेल' शब्द का प्रयोग किस आधार पर किया जाता है? विट्गेंस्टाइन का उत्तर है कि विभिन्न खेलों में मिलती-जुलती समानताएं होती हैं। इन्हें वह 'पारिवारिक साम्य' कहता है। इन्हीं समानताओं के आधार पर सामान्य शब्दों का प्रयोग किया जाता है। विट्गेंस्टाइन के अनुसार :

''मै भाषा और उसके साथ गुंथी हुई क्रियाओं के साकल्य को भी 'भाषा-खेल' कहूँगा।''[56]

विट्गेंस्टाइन प्रयोग और भाषा-खेल को परस्पर सम्बन्धित करता है। शब्दों और वाक्यों का प्रयोग वास्तविक स्थितियों में किसी प्रयोजन या उद्देश्य के लिये किया जाता है। अतः भाषा के साथ अपने मूल रूप में कुछ क्रियायें सम्बद्ध होती हैं। भाषा एवं क्रियाओं से मिलकर भाषा खेल संभव होता है। यदि कोई शेर कहता है : ''तीन बज गये'' किन्तु वह कोई क्रिया नहीं

करता तो उसके कहने का कोई अर्थ नहीं है। अतः विट्गेंस्टाइन कहता है : ''यदि कोई शेर बोलता है : तो हम उसे समझ नही सकते''[57]। इसीलिए विट्गेंस्टाइन भाषा-खेल को समझने के लिए जीवन-पद्धति एवं सहमति पर विशेष बल देता है। स्पष्ट है कि हम विभिन्न सन्दर्भों में विभिन्न भाषा-खेल खेलते है।

अतः नैतिक भाषा का स्वरूप समझने के लिए यह बताना आवश्यक है कि हम नैतिक शब्दों एवं नैतिक निर्णयों का प्रयोग किस प्रयोजन के लिए करते हैं। किन्तु केवल प्रयोग से स्थिति बहुत स्पष्ट नही होती। इसीलिए अनेकों समकालीन नैतिक दार्शनिकों ने प्रयोग के स्पष्टीकरण के लिए आस्टिन के वाक्-क्रियाओं के सिद्धान्त पर ध्यान दिया है।

आस्टिन का सिद्धान्त

पारम्परिक व्याकरण वाक्यों के आकारों के अनुसार उनका वर्गीकरण करता है, उदाहरण के लिए निर्देशात्मक, आदेशात्मक, प्रश्नवाचक आदि में। यह भी मान लिया जाता है कि वाक्य का व्याकरणात्मक आकार ही उसके कार्य का निर्धारण करता है। किन्तु यह सत्य नहीं है। उदाहरण के लिए 'क्या तुम आवोगे'? का प्रयोग सन्दर्भ एवं अभिप्राय के अनुसार प्रश्न पूंछने, निवेदन करने तथा अन्य अनेकों कार्यों के लिए हो सकता है। किन्तु इस वर्गीकरण के कारण दार्शनिकों ने निर्देशात्मक वाक्यों पर ही ध्यान दिया था और मान लिया था कि जो वाक्य निर्देशात्मक नहीं है उनका कोई गंभीर महत्व नही है। इसीलिए 'यह शुभ है' को आकार के आधार पर निर्देशात्मक माना गया और इसका मूल्यांकन भी सत्य एवं असत्य के द्वारा किया गया। किन्तु दो बातें स्पष्ट है : एक, आकार कार्य का निर्धारण नहीं करता, दो, सत्य एवं असत्य के अतिरिक्त अन्य आधारों पर भी वाक्यों का मूल्यांकन हो सकता है।

आस्टिन ने *हाऊ टु डू थिंग्स विद वर्ड्स* में दिखाया है कि भाषा के अध्ययन की इकाई न शब्द है न वाक्य अपितु वह कार्य जो वाक्य की सहायता से किया जाता है। भाषा वास्तव में कार्य का ही अंग है। अतः भाषा का अध्ययन वाक्कार्यों के सिद्धान्त से ही हो सकता है। भाषा का कार्य सदैव अथवा सभी सन्दर्भों में केवल सूचना देना, वर्णन करना या तथ्य

बताना नहीं होता। आरम्भ में आस्टिन ने कुछ लेखों[58] में भाषा के एक उपेक्षित किन्तु महत्वपूर्ण कार्य का विवेचन किया था। उसके अनुसार यह है भाषा का सम्पादनात्मक पक्ष। कुछ वाक्य, निश्चित सन्दर्भों में, सूचना नही देते, सत्य या असत्य नही होते। इन्हें आस्टिन सम्पादनात्मक वाक्य कहता है। उदाहरण के लिए "मैं वादा करता हूँ", "मै इस भवन का उद्‌घाटन करता हूँ", "मै तुम्हें पत्नी बनाता हूँ" आदि वाक्य सम्पादनात्मक वाक्य हैं। जब मैं किसी से कहता हूँ "मैं कल आने का वादा करता हूँ" तो मै वादा करने की सूचना नहीं देता। इसे सत्य या असत्य नहीं कहा जा सकता। अन्य शब्दों में यह वाक्य 'कथ्यात्मक' (कांस्टेटिव) नहीं है। यह उच्चारण एक विशेष कार्य-वादा करने–का अंग है। "मैं कल आने का वादा करता हूँ" वादा करने का कार्य करना है, किसी पूर्वकृत कार्य की सूचना देना या वर्णन करना नहीं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सम्पादनात्मक भाषा का मूल्यांकन नहीं हो सकता इसके मूल्यांकन के पहले इसके स्वरूप को और अच्छी तरह समझना आवश्यक है। स्पष्ट रूप से सम्पादनात्मक कार्य का स्वरूप इस प्रकार है : इसमें क्रिया वर्तमान काल, उत्तम पुरुष एवं एक वचन में होती है। उदाहरण के लिए " मैं वादा करता हूं।" पर साथ ही अन्य शर्तों का होना आवश्यक है जैसे उपयुक्त स्थिति, ईमानदारी, अभिप्राय, कार्य करने की क्षमता, परम्परायें एवं सम्बन्धित नियम आदि। इनके अभाव में या इनका उल्लंघन करने पर सम्पादनात्मक कार्य अक्षम हो जाता है। प्रथम, किसी अन्य रीतिरिवाज या अनुष्ठान के समान सम्पादनात्मक कार्य अवैध हो सकता है।[59] उदाहरण के लिए यदि मै भवन का उद्‌घाटन करने के लिए आमंत्रित नहीं हूँ तो मेरा कहना "मैं इस भवन का उद्‌घाटन करता हूँ" अवैध हो जाएगा। दूसरे, सम्पादनात्मक कार्य अवैध न होते हुए भी अन्य कारणों से अनुपयुक्त हो सकता है। उदाहरण के लिए यदि मै वादा पूरा न करने के विचार के साथ वादा करता हूँ तो ईमानदारी के अभाव में मेरा कार्य अनुपयुक्त होगा। तीसरे, यह कार्य अनुपयुक्त होगा यदि मैं निश्चित विधियों का पालन नहीं करता। आस्टिन के अनुसार सम्पादनत्मक भाषा का प्रयोग वाक्य एवं कार्य दोनों है। अतः इसमें दोनों के दोष संभव हैं[60]। और ये दोष अनेकों प्रकार के हो सकते हैं। इस प्रकार आस्टिन कथ्यात्मक (कांस्टेटिव) एवं सम्पादनात्मक (पर्फारमेटिव) वाक्यों में अन्तर करता है।

किन्तु *हाउ टू डू थिंग्स विद वर्ड्स*[61] में उसने इस भेद का खण्डन किया है। इसके स्थान पर वह वाक् कार्यों का सिद्धान्त प्रस्तावित करता है। अब उसका मत है कि सम्पादनात्मक कार्य के लिए स्पष्ट सम्पादन सूचक शब्दों का प्रयोग आवश्यक नहीं है। उदाहरण के लिए "मैं' कल आने का वादा करता हूँ" के स्थान पर "मै" कल आऊंगा" का प्रयोग हो सकता है। यदि यह सत्य है तो कथन आदि भी सम्पादनात्मक हो जायेंगे। दूसरे, सम्पादनात्मक कार्य भी सत्य या असत्य हो सकते है तथा ऐसे कथ्यात्मक कथन हो सकते हैं जिनमें ऐसे सभी दोष हों जो सम्पादनात्मक कार्यों में होते हैं। उदाहरण के लिए यदि मैं वादा करने की स्थिति में नहीं हूँ तो यह भी सम्भव है कि मैं सूचना देने की स्थिति में नही हूँ। यदि मैं बेईमानी के साथ वादा कर सकता हूँ तो मैं बेईमानी के साथ सूचना भी दे सकता हूँ। अतः आस्टिन मानता है कि भाषा के सभी प्रयोग वाक् कार्य हैं। इन्हीं कार्यों के भेद हैं कथन करना, सूचना देना, वादा करना, चेतावनी देना आदि।

विट्गेंस्टाइन ने इन सभी प्रयोगों का उल्लेख किया है, किन्तु आस्टिन इन्हें एक निश्चित सैद्धान्तिक स्वरूप प्रदान करता है। उसके अनुसार वाक् कार्यों के अन्तर्गत तीन कार्यों में भेद किया जा सकता है :

(1) उच्चारण का कार्य (लोक्युशनरी ऐक्ट)

(2) कुछ करने का कार्य (इलोक्युशनरी ऐक्ट)

(3) परिणाम या प्रभाव का कार्य (पर्लोक्युशनरी ऐक्ट)

लोक्युशनरी कार्य वास्तव में कुछ कहने का कार्य है। आस्टिन के अनुसार इसके अन्तर्गत तीन कार्यों में अन्तर किया जा सकता है। (अ) प्रथम है ध्वन्यात्मक कार्य (फोनेटिक ऐक्ट)। जब भी हम कुछ कहते है तो कुछ ध्वनियों का उच्चारण करते हैं। (ब) द्वितीय है शब्दात्मक (फैटिक) कार्य । जब हम कुछ कहते है तो ऐसी ध्वनियों का उच्चारण करते हैं जो शब्दात्मक होती हैं, अर्थात् ऐसी ध्वनियाँ जिन्हें किसी भाषा के अन्तर्गत् शब्द माना जाता है, जो उस भाषा के कोश से एवं उसके व्याकरणात्मक नियमों से निर्धारित होती हैं। (स) तृतीय है

अर्थात्मक (रहेटिक) कार्य। अर्थात् इन शब्दों का कमोवेश रूप में निश्चित तात्पर्य एवं निर्देश के साथ प्रयोग करने का कार्य। संक्षेप में इन्हें ध्वनि, शब्द एवं सार्थक शब्द कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए उसने कहा "बैल खतरनाक है"। इसमें ध्वनियॉं हैं, ध्वनियाँ शब्द हैं और सार्थक है। आस्टिन के अनुसार लोक्युशनरी ऐक्ट वाक्य के कहने का कार्य है। अतः वह मानता है कि यह कार्य कुछ कहने का कार्य है। आस्टिन ने[62] फैटिक एवं रहेटिक कार्यों का उदाहरण इस प्रकार दिया है: " उसने कहा 'बिल्ली चटाईपर है' " और "उसने कहा कि बिल्ली चटाई पर है"।

किन्तु लोक्युशनरी कार्य से यह स्पष्ट नही होता कि उसने जो भी कहा उसे किस रूप में समझा जाय। उदाहरण के लिये "उसने कहा कि बैल खतरनाक हैं" यह नही बताता कि यह बैल का वर्णन है, या किसी प्रश्न का उत्तर है, या मूल्यांकन है, या चेतावनी है, या परामर्श है, या कुछ अन्य। अर्थात हम यह नही जानते कि इस वाक्य का प्रयोग किस कार्य के लिए किया जा रहा है। इस पक्ष को बताने वाले कार्य को आस्टिन इलोक्युशनरी ऐक्ट कहता है। वह कहता है:

"किसी लोक्युशनरी कार्य का करना, सामान्यतः जैसा मैं इसे कहना चाहता हूँ, इलोक्युशनरी कार्य करना भी है। यह जानने के लिए कि कौन सा इलोक्युशनरी कार्य किया गया हमें यह निश्चित करना चाहिए कि हम लोक्युशन का प्रयोग किस प्रकार कर रहे है।"[63] लोक्युशनरी कार्य कुछ कहने का कार्य है जब कि इलोक्युशनरी कार्य कुछ कहने में कुछ करने का कार्य है। उदाहरण के लिये, इस कथन में कि बैल खतरनाक है वह चेतावनी दे रहा है। विभिन्न इलोक्युशनरी कार्यों को आस्टिन इलोक्युशनरी फोर्स[64] मानता है। आस्टिन ने अनेक प्रकार के इलोक्युशनरी कार्यो का उल्लेख किया है और मोटे तौर पर उन्हें पाँच प्रकारों में विभाजित किया है किन्तु इसे पूर्ण सूची नहीं माना जा सकता। कुछ उदाहरण है:

पूँछना या प्रश्न का उत्तर देना,

सूचना देना या आशान्वित करना या चेतावनी देना,

निर्णय देना, अभिप्राय बताना,

नियुक्तिदेना, अपील करना, आलोचना करना,

पहचान करना, वर्णन करना,

आस्टिन के अनुसार भाषा का तृतीय कार्य पर्लोक्युशनरी कार्य या परिणाम मूलक कार्य है। उसके अनुसारः

"कुछ कहने से प्रायः या सामान्यतया भी, श्रोता, या वक्ता, या अन्य व्यक्तियों के भावों, विचारों या कार्यों पर कुछ प्रभाव उत्पन्न होता है; और यह उन्हें उत्पन्न करने की योजना, अभिप्राय या उद्देश्य के साथ किया जा सकता है; और इसे ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि वक्ता ने एक ऐसा कार्य सम्पादित किया है जिसके सन्दर्भ में लोक्युशनरी या इलोक्युशनरी कार्य का निर्देश या तो (श अ) परोक्षरूप में या (श ब) बिल्कुल नहीं होता। हम इस प्रकार के कार्य को पर्लोक्युशनरी कार्य या पर्लोक्युशन कहेंगे।"[65]

आस्टिन ने अधोलिखित उदाहरण द्वारा तीनों कार्यों का अन्तर स्पष्ट किया है:

लोक्युशनः उसने मुझसे कहा : "उसे गोली मारो" "गोली मारो"। का अर्थ गोली मारो, "उसे" का अर्थ उसे है।

इलोक्युशनः उसने मुझे उसे गोली मारने के लिये प्रेरित (या परामर्श या आदेश आदि) किया।

पर्लोक्युशनः (श अ के अनुसार) उसने मुझे गोली मारने के लिये राजी कर लिया।

(श ब के अनुसार) उसने मुझसे उसे गोली मारने का कार्य करवा लिया।[66]

हमें इलोक्युशनरी या पर्लोक्युशनरी कार्यों का ज्ञान कैसे होता है? उदाहरण के लिये हम कैसे जानते हैं कि जो कहा गया वह चेतावनी है? आस्टिन के अनुसार सबसे सरल उपाय है स्पष्ट रूप से इलोक्युशनरी सूत्र का प्रयोग : "मै तुम्हें चेतावनी देता हूँ कि...." किन्तु अन्य उपाय भी हैं। स्वर या स्वराघात से जाना जा सकता है कि चेतावनी दी जा रही है। कुछ सन्दर्भों में क्रियाभाव (मूड), कुछ में क्रिया विशेषण से यह ज्ञान हो सकता है। 'अतः', 'इसलिए'

आदि से हम जान सकते हैं कि निष्कर्ष निकाला जा रहा है। इन सब में महत्वपूर्ण यह है कि ये सभी परम्परागत या रूढ़ विधियाँ अथवा भाषा के प्रयोग से सम्वन्धित नियम युक्त उपाय है। इन्हीं के द्वारा यह जाना जाता है कि किस इलोक्युशनरी कार्य का सम्पादन हो रहा है। रुढ़ियों एवं नियमों के साथ वक्ता के अभिप्राय का भी इलोक्युशन में महत्व है, किन्तु पर्लोक्युशन के लिए रुढ़ियो, नियमों एवं वक्ता के अभिप्राय का महत्व नहीं है। पर्लोक्युशनरी कार्य के प्रभाव का ज्ञान आनुभविक निरीक्षण से जाना जाता है। इस प्रभाव के लिए नियम या अभिप्राय आवश्यक नहीं है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति रात्रि मे निर्जन रास्ते पर जा रहा है और उसका मित्र, जिसे वह नहीं देख रहा है, कहता है ''नमस्कार''। इस अभिवादन से वह व्यक्ति डर जाता है, किन्तु वक्ता का उद्देश्य न उसे डराना है न किसी रूढ़ि या नियम से नमस्कार और डरने में कारणात्मक सम्बन्ध है। अतः इलोक्योशनरी कार्य से अर्थ स्पष्ट किया जा सकता है किन्तु पर्लोक्युशनरी कार्य से नहीं। पर यह विन्दु अभी भी विवाद का विषय है। कुछ दार्शनिकों का विचार है कि अर्थ एवं इलोक्युशनरी फोर्स में भेद है, कुछ का मत है कि व्यापक रूप में अर्थ एवं इलोक्यूशनरी फोर्स एक ही हैं। महत्वपूर्ण यह है कि अर्थ के निर्देशात्मक, सत्यापन एवं मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त निश्चित रूप से संकुचित एवं गलत हैं। किसी न किसी रूप में अर्थ का स्पष्टीकरण प्रयोग से ही हो सकता है भले ही अर्थ एवं प्रयोग एक न हों। दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि भाषा के तार्किक स्वरूप को समझने के लिए यह प्रश्न अधिक आवश्यक हैं कि किसी विशेष सन्दर्भ में भाषा का प्रयोग किस प्रयोजन के लिए किया जा रहा है। इलोक्युशनरी वाक् कार्य के सिद्धान्त का समकालीन नैतिक दर्शन पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। हेअर तथा नव्य प्रकृतिवादी दार्शनिक जैसे वार्नाक, फिलिपा फुट आदि ने इसी सिद्धान्त के आधार पर नैतिक पदों, निर्णयों एवं युक्तियों का विवेचन किया है। प्रश्न यह है कि परामर्शवाद एवं नव्य-प्रकृतिवाद दोनों एक ही सिद्धान्त को मानते हुए भिन्न-भिन्न निष्कर्ष तक कैसे पहुँचते है? वार्नाक ने अपनी पुस्तक ***कन्टेम्पोररी मॉरल फिलासफी*** (1967) में हेअर की आलोचना किया है। उसके अनुसार नैतिक भाषा के उतने ही विविध कार्य हैं जितने सामान्यतः भाषा के कार्य हैं। नैतिक भाषा को केवल परामर्शात्मक नहीं माना जा सकता।

नैतिकता का निर्धारण उसके विषय से होता है और यह विषय है ''मानव प्रसन्नता या हित, आवश्यकता, आकांक्षा या इच्छायें''[67]। हेअर का मत है कि वार्नाक का यह विचार इस बात का परिणाम है कि वह अर्थ एवं इलोक्युशन को एक दूसरे से भिन्न मानता है। हेअर का विचार है कि अर्थ का आश्रय केवल लोक्युशन नहीं है। अर्थ को उसकी सम्पूर्णता में तभी समझा जा सकता है। जब अर्थ एवं इलोक्युशन में अभेद माना जाए। हम उपयुक्त स्थानों पर इन विचारों पर विस्तार से विवेचन करेंगे।

सन्दर्भ

1. एअर, ए. जे., फिलासॉफिकल एसेज पृ० 246 स्टीवेंसन सी.एल., एथिक्स ऐण्ड लैग्वेज पृ० 1 हेअर ए.एम., लैग्वेज आव मॉरल्स प्रस्तावना।
2. आग्डेन और रिचर्ड्स, द मीनिग आव मीनिग
3. कूपर, डी.ई., फिलॉसफी एण्ड द नेचर आव लैग्वेज पृ० 16 में उद्धृत
4. राइल, गिल्वर्ड, ' द मीनिंग आव मीनिंग' ब्रिटिश फिलॉसफी इन द मिड सेन्चुरी, सं. सी.मेस में संकलित
5. रसेल, बी., एनालिसिस आव माइन्ड, 1921, पृ० 191
6. आल्सटन, डब्लू. पी., फिलॉसफी आव लैंग्वेज, 1964, पृ० 13
7. विट्गेंस्टाइन ट्रैक्टेटस, 4.22
8. वही 3.203
9. वही, 4.0312
10. विट्गेंस्टाइन, फि. इ. 40 एवं वायसमान, एफ., द प्रींसिपल्स आफ लिंग्विस्टिक फिलासफी, 1965 पृ० 312-13
11. आल्स्ट्न, डब्लू. पी., फिलासफी आफ लैंग्वेज, 1964 पृ० 13
12. वही, पृ० 12-13
13. फि. इ. 47
14. ट्रैकटेटस, 6.42,6.421
15. श्लिंक, एम. "मीनिंग एण्ड वेरीफिकेशन" ए और के. लेहरर, द्वारा सम्पादित थ्योरी आव मीनिंग में संकलित, 1970, पृ० 100
16. एअर ए.जे., लैंग्वेज, ट्रूथ ऐंड लाजिक, द्वितीय संस्करण, 1946,पृ० 9

17. एअर ए.जे., लैंग्वेज ट्रूथ ऐंड लाजिक, द्वितीय संस्करण, 1946, पृ० 50 पर उद्धृत शिलक के लेख।

18 एअर ए. जे., लैग्वेज, ट्रूथ एंड लाजिक, द्वितीय संस्करण पृ० 50

19 लैजरो विश्श एम., "स्ट्रांग एंड वीक वेरीफिकेशन" माइंड 1939

20. बर्लिन, आई, "वेरीफाइबिलिटी इन प्रिंसीपुल" पी. ए. स. वा 39

21. एअर ए. जे., लैग्वेज, ट्रुथ एंड लाजिक, द्वितीय संस्करण, पृ० 17

22. चर्च, ए, जर्नल, आव सिम्बालिक लाजिक, 1949, पृ० 52-3

23 एअर, ए. जे., लाजिकल पाजिटिविज्म, 1959, पृ० 14

24. वही, पृ० 15

25. एअर ए. जे., लैंग्वेज, ट्रूथ एंड लाजिक, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ 84-7

26. विट्गेंस्टाइन, लुडविग, ब्लू एंड ब्राउन बुक्स एंड फिलॉसफिन्दल इन्वेस्टीगेशन्स

27. स्टीवेंशन सी. एल., एथिक्स ऐंड लैंग्वेज

28. स्टीवेशन, सी. एल., एथिक्स ऐंड लैग्वेज, पृ० 33

29. वही, पृ० 71

30 वही, पृ० 76

31. वही, पृ० 54

32. वही, पृ० 59

33. वही, पृ० 62

34.. वही , पृ 68

35. वही, पृ० 68

36. वही, पृ० 68-69

37. वही, पृ० 70

38 वही, पृ० 37

39 वही, पृ० 39

40. वही, पृ० 33

41. वही, पृ० 61

42. वही, पृ० 33

43. कूपर, डैविड ई;, फिलासफी एण्ड द नेचर आव लैंग्वेज, 1973, पृ० 54-60

44. सर्ल, जे. आर., स्पीच एक्ट्स, 1969, पृ० 48-49

45. हडसन, डब्लू. डी. माडर्न मॉरल फिलॉसफी, 1970 पृ० 38

46. आस्टिन जे. एल., हाउ टु डू थिंग्स विद वर्ड्स

47. विट्गेंस्टाइन, लुडविग, आक्सफोर्ड 1953

48. आस्टिन, जे.एल. आक्सफोर्ड 1962

49. फि. इ. 693

50. वही, 508

51. ब्लु ऐंड ब्राउन बुक्स, पृ० 42

52. फि. इ., 43

53. फि. इ. 569

54. फि. इ., 23, अनुवाद, अशोक वोहरा, 1996

55. फि. इ., 24

56. फि. इ., 7, अनुवाद, अशोक वोहरा, 1996

57. फि. इ., 223

58. आस्टिन, जे. एल. फिलासाफिकल पेपर्स,

59 आस्टिन, जे.एल., सी. कैन्टन सं. 'फिलासाफी ऐण्ड आर्डिनरी लैंग्वेज 1963 में संकलित लेख पर्फारमेटिव कान्सटेटिव'' पृ० 23

60 वही, पृ० 24

61 आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस 1962

62. आस्टिन, जे.एल. 'हाउ टु डू विंग्स विद वर्ड्स पृ० 95

63. वही, पृ० 98

64. वही

65. वही, पृ० 101

66 वही, पृ, 101-2

67. वार्नाक, जी. के., 'कन्टेम्पोररी मॉरल फिलासफी'', 1969 पृ० 55

अध्याय–2

प्रज्ञावाद

जी० ई० मूर

समकालीन नैतिक दर्शन का आरम्भ जी.ई.मूर की पुस्तक *'प्रिंसिपिया एथिका'* से माना जा सकता है। यद्यपि मूर के नैतिक सिद्धान्त अव विवाद के विषय है और इस क्षेत्र में मूर ने कोई क्रान्ति नही की किन्तु जैसा जी.सी.कर्नर[1] का मत है मूर के विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण है एवं उसकी रचनाओं के आधार पर ही नैतिक दर्शन में नवीन क्रान्ति संभव हुई। हमारा विषय नैतिक तर्कना या नैतिक युक्तियों के स्वरूप का विवेचन है। इस सन्दर्भ में हमने सर्वप्रथम समकालीन प्रज्ञावाद पर विचार किया है जिसके अन्तर्गत मुख्य रूप से मूर, प्रिचर्ड एवं रॉस के मतों का विवेचन किया गया है। मूर का मत है कि यह जानने के लिए कि नैतिक निर्णयों के पक्ष में किस प्रकार के तर्क दिये जा सकते हैं हमें सबसे पहले नैतिक शब्दों के समबन्ध में स्पष्ट हो जाना चाहिए। "जब तक हम यह नही समझ लेते कि कौन सी अवधारणा प्रतिज्ञप्ति को नैतिक बनाती है हम नही समझ सकते कि नैतिक प्रतिज्ञप्ति किस प्रमाण पर आधारित है।"[2] उसके अनुसार नीतिशास्त्र के तीन मुख्य विषम हैः शुभ क्या है? कौन सी वस्तुयें स्वतः शुभ हैं? एवं, हमें क्या करना चाहिए? इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैः शुभ क्या है? अन्य प्रश्नों का उत्तर इसी पर निर्भर है। किन्तु *'प्रिंसिपिया एथिका'* मे उसका मत है कि शुभ एक सरल, निर्प्राकृतिक गुण है जिसका ज्ञान केवल प्रज्ञा से ही हो सकता है। अतः शुभ के सन्दर्भ में कोई परिभाषा संभव नहीं है और 'यह शुभ है' के सन्दर्भ में कोई तर्क नही दिया जा सकता। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसने तर्कों का प्रयोग नहीं किया है। मूर के अनुसार 'यह शुभ है' व्यावहारिक नीतिशास्त्र का विषय नही है। व्यावहारिक नीतिशास्त्र का विषय है; 'हमे क्या करना चाहिए?'[3] उसके अनुसार इस प्रश्न का उत्तर प्रज्ञा के द्वारा नहीं दिया जा सकता। ***प्रिंसिपिया*** में उसका मत है; "यह कथन कि "मै इस कार्य को करने के लिए नैतिक रूप से बाध्य हूँ' इस कथन से अभिन्न है कि 'इस कार्य से विश्व में सर्वाधिक संभावित शुभ उत्पन्न होगा "या इस कथन से कि " सम्पूर्ण जगत् श्रेष्ठत्तर होगा यदि यह कार्य किया जाता है न कि इसका अन्य कोई भी विकल्प।"[4] अतः मुझे क्या करना चाहिए? के सम्बन्ध में तर्क

दिये जा सकते है। किन्तु ये तर्क कारणात्मक तर्क है। ये केवल यह बताते हैं कि किसी विशेष कार्य के क्या परिणाम होंगे। अतः इन तर्कों को नैतिक तर्कों के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता । इसी प्रकार मूर ने अन्य सिद्धान्तों के खण्डन के लिए तर्कों का प्रयोग किया है, किन्तु ये तर्क सामान्य तर्कों की श्रेणी मे ही आते है। उसके अनुसार शुभ ही नैतिकता का सर्वोच्च प्रत्यय है। अतः हमे यह विचार करना है कि शुभ के सन्दर्भ में तर्क दिये जा सकते हैं अथवा नहीं। किन्तु इसके लिए सर्व प्रथम मूर के अनुसार शुभ का विवेचन आवश्यक है।

मूर प्रज्ञावाद का समर्थक है किन्तु उसने स्वयं माना है कि वह पूर्ण रूप से प्रज्ञावादी दार्शनिक नहीं है। सामान्य प्रज्ञावाद एवं मूर के सिद्धान्त में अधोलिखित अन्तर है :

1. *'प्रिंसिपिया एथिका'* की प्रस्तावना में वह लिखता है; "मैं सामान्य अर्थ में 'प्रज्ञावादी' नही हूँ।"[5] उसका तात्पर्य है कि वह विधानवादी प्रज्ञावादी नहीं है, उसका यह मत नहीं है कि उचित या कर्तव्य के लिए परिणाम के आधार पर कोई तर्क नहीं दिया जा सकता। वह कार्यों के आन्तरिक औचित्य या बाध्यता का सिद्धान्त स्वीकार नहीं करता। किन्तु रास एवं प्रिचर्ड का यही विचार था। स्वयं मूर के मत में बाद में उसकी पुस्तक *'एथिक्स'* में कुछ परिवर्तन दिखाई पड़ता है। किन्तु *'प्रिंसिपिया'* में उसका सिद्धान्त है कि कार्य के उचित या अनुचित होने का अथवा कर्तव्य होने या न होने का निर्णय इस बात पर निर्भर है कि उससे कितना शुभ उत्पन्न होता है या नहीं होता। प्रज्ञा से हमे इसका ज्ञान नहीं हो सकता।

2. प्रज्ञावाद से उसका दूसरा अन्तर यह है कि वह प्रज्ञावादियों की प्रज्ञाविषयक अवधारणा को स्वीकार नहीं करता। वह कहता है:

"मैं यह कहना चाहूँगा कि जब मै इन प्रतिज्ञप्तियों (जैसे कि किस प्रकार की वस्तुओं का स्वयं अपने लिए अस्तित्व होना चाहिए) को 'प्रतिभान' कहता हूँ तो मै केवल यह कहना चाहता हूँ कि इनके लिए कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता; मै इनके ज्ञान की विधि या उत्पत्ति के सम्बन्ध मे कुछ नही कहता।"[6] सत्रहवीं एवं अठारहवीं शताब्दी के प्रज्ञावादियों ने इस प्रश्न पर पर्याप्त विवाद किया था। शैफ्ट्सबरी एवं हचिसन का मत था प्रज्ञा एक इन्द्रिय है जब

कि कडवर्थ, क्लार्क एवं प्राइस का विचार था कि प्रज्ञा बुद्धि है। प्रिचर्ड एवं रास भी दूसरे विचार का समर्थन करते हैं। इन्हें बौधिक प्रज्ञावादी माना जाता है। मूर इस प्रश्न पर विचार नही करता कि नैतिक प्रतिभान कैसे संभव होता है या इसका स्वरूप क्या है।

3. प्रज्ञावादियों का मत है कि नैतिक प्रतिभान संशय रहित एवं सत्य होता है। मूर का मत इससे भिन्न है। वह कहता है:

"मेरा यह तात्पर्य नहीं है जैसा अधिकतर प्रज्ञावादी मानते हैं कि प्रतिज्ञप्ति इसलिए सत्य है कि हमें विशेष प्रकार से इसका ज्ञान होता है या विशेष इन्द्रिय से इसका सम्बन्ध है; इससे भिन्न मेरा मत है कि जिस विधि से सत्य प्रतिज्ञप्ति का ज्ञान होता है उसी से असत्य प्रतिज्ञप्ति का भी ज्ञान होता है।"[7].

स्पष्ट है कि मूर प्रज्ञावादियों के इस विचार से सहमत नही है कि नैतिक प्रतिभान सदैव सत्य होता है। वे मानते थे कि प्रतिभान कुछ कारणों से प्रभावित हो सकता है किन्तु जब कोई बाह्य प्रभाव न हो तो यह सदैव सत्य होता है। मूर इसे स्वीकार नहीं करता। किन्तु कुछ सन्दर्भों में मूर प्रतिभान का विवरण जिस रूप में देता है उससे प्रतीत होता है कि कभी- कभी मूर भी इसे निश्चित रूप से सत्य मान लेता है। आदर्श पर विचार करते समय मूर कहता है कि वैयक्तिक्र प्रेम एवं सौन्दर्य ऐसे आदर्श है जिनके सम्बन्ध में कोई संशय नहीं हो सकता।[8] पर इतना निश्चित है कि मूर का प्रज्ञावाद सामान्य प्रज्ञावादी सिद्धान्तों से भिन्न है।

शुभ की अपरिभाषेयता

अब हम नैतिकता के मुख्य विषम शुभ का विवेचन कर सकते हैं। इसके बाद ही नैतिक युक्तियों का प्रश्न उठाया जा सकता है। मूर के अनुसार नैतिकता का सबसे महत्वपूर्ण एवं मुख्य प्रश्न है: शुभ का अर्थ क्या है और उसकी परिभाषा क्या है? मूर का मत है कि शुभ एक सरल, अविश्लेष्य निर्प्राकृतिक गुण है।[9] कुछ प्राकृतिक गुण भी सरल होते हैं जैसे पीला रंग। पीले रंग का केवल अनुभव हो सकता है। जिस व्यक्ति को पीले रंग का अनुभव नहीं है उसे वर्णन या परिभापा के द्वारा पीले रंग का ज्ञान नहीं कराया जा सकता । यह सत्य है

कि सभी पीली वस्तुयें कुछ प्रकाश तरंगें उत्पन्न करती है, किन्तु 'पीले' का अर्थ प्रकाश तरंग नही है। इसी प्रकार हम बता सकते है कि कौन सी वस्तुयें शुभ है किन्तु इससे शुभ की परिभाषा निर्धारित नहीं होती। मूर कहता है:

"यदि कोई मुझसे पूछता है 'शुभ क्या है?' मेरा उत्तर है कि शुभ शुभ है और यही विषय का अन्त है। या यदि मुझसे पूछा जाता है 'शुभ की परिभाषा कैसे हो सकती है?' मेरा उत्तर है कि इसकी परिभाषा नही हो सकती, और इसके विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है।"[10]

मूर का मत है कि शुभ वस्तुओं की परिभाषा दी जा सकती है। शुभ सरल गुण होने के कारण परिभाषेय नही है किन्तु जिन वस्तुओं या अनुभवों मे यह गुण पाया जाता है, जिसके कारण इन्हे शुभ कहते हैं उन वस्तुओं की परिभाषा संभव है। 'शुभ' का प्रयोग दो रूपों में होता है : विशेषण के रूप में एवं संज्ञा के रूप में। संज्ञा के रूप में कुछ वस्तुओं को शुभ माना जाता है जैसे सुख, ज्ञान, स्वास्थ्य आदि। इनमें विशेषण के रूप में शुभ निहित रहता है और इन्हें शुभ बनाता है। इससे स्पष्ट है कि विशेषण के रूप में शुभ संज्ञा के रूप में शुभ से भिन्न है। जो वस्तुयें शुभ है उनमें शुभ गुण के अतिरिक्त अन्य गुण भी होते है। अतः शुभ वस्तु एक संश्लिष्ट वस्तु है और संश्लिष्ट होने के कारण उसका अवयवों में विश्लेषण संभव है। जो संश्लिष्ट है उसका विश्लेषण के द्वारा परिभाषा संभव है। किन्तु विशेषण के रूप में शुभ सरल एवं अविश्लेष्य है। अतः शुभ की परिभाषा नहीं हो सकती।[11]

किन्तु मूर परिभाषा के किस अर्थ में शुभ को अपरिभाषेय मानता है? मूर कहता है कि 'शुभ' की शाब्दिक परिभाषा संभव है और यह परिभाषा दो प्रकार की होती है: एक, कोई व्यक्तिअपने व्यक्तिगत अर्थ में शब्द की परिभाषा दे सकता है। कोई व्यक्ति कह सकता है जब में 'अ' का प्रयोग करता हूँ तो मेरा अर्थ ब है। इस रूप में शुभ की परिभाषा संभव है। यह परिभाषा व्यक्तिगत एवं मनमानी परिभाषा है।[12] दूसरे वास्तविक शाब्दिक परिभाषा हो सकती है। इसमें वताया जाता है कि किसी विशेप भापा में किसी निश्चित शव्द का प्रयोग लोग किस

प्रकार करते है। परिभाषा का यह प्रकार अधिक उपयुक्त है। मूर के अनुसार इस रूप में भी शुभ की परिभाषा हो सकती है क्योकि;

"इसका पता किया जा सकता है कि लोग किस प्रकार शब्द का प्रयोग करते है; अन्यथा हमें इसका ज्ञान न होता कि 'गुड' का जर्मन में 'गूट' एवं फ्रेंच में 'बान' में अनुवाद हो सकता है।"[13] किन्तु मूर का विचार है कि दर्शन में इस परिभाषा का भी कोई महत्व नहीं है। वास्तविक परिभाषा में शब्द द्वारा निर्दिष्ट वस्तु का विश्लेषण उसके अवयवों में किया जाता है। वह लिखता है :

" 'शुभ' यदि इसका अर्थ वह गुण है जो उन वस्तुओं में निहित होता है जिन्हें हम शुभ कहते हैं, इस सर्वाधिक महत्वपूर्ण अर्थ में अपरिभाषेय है। 'परिभाषा' का सबसे महत्वपूर्ण अर्थ वह है जिसमें परिभाषा यह बताती है किसी पूर्ण वस्तु के आवश्यक अवयव क्या है; और इस अर्थ में 'शुभ' की कोई परिभाषा नहीं है क्योंकि यह सरल है तथा इसमें अवयव नहीं है।"[14]

मूर के अनुसार शुभ " वह वस्तु या प्रत्यय है जिसका 'शुभ' द्वारा निर्देश होता है।"[15] अर्थात् शुभ एक सरल निर्प्राकृतिक गुण है। सरल होने के कारण यह अविश्लेष्य है, निरवयव है, अतः शुभ के परिभाषा नहीं हो सकती।

इसी प्रकार मूर कहता है कि प्रतिज्ञप्तियाँ दो प्रकार की होती हैं। विश्लेषणात्मक एवं संश्लेषणात्मक। विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता अथवा असत्यता का निश्चय उनमें प्रयुक्त शब्दों की परिभाषा से ही हो जाता है। उदाहरण के लिए "सभी कुवाँरे अविवाहित वयस्क मनुष्य है" विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति है। यदि हम 'सभी' , 'कुवाँरे', 'अविवाहित; 'वयस्क', 'मनुष्य', का अर्थ जानते है तो हम यह भी जानते हैं कि यह प्रतिज्ञप्ति सत्य है। किन्तु संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता का निर्धारण इस विधि से नहीं हो सकता। मूर के अनुसार "शुभ से सम्बन्धित प्रतिज्ञप्तियाँ सभी संश्लेषणात्मक होती है।"[16] अतः 'शुभ' या अन्य किसी पद के अर्थ के आधार पर शुभ की परिभाषा नहीं हो सकती। हम यह नहीं कह सकते कि

सुख ही एक मात्र शुभ है या शुभ वह हैजिसकी इच्छा की जाती है क्योंकि 'शुभ' शब्द का यही अर्थ है।

मूर का मत है कि यदि 'शुभ' को अपरिभाषेय न माना जाय तो केवल दो विकल्प संभव है। प्रथम विकल्प के अनुसार 'शुभ' द्वारा निर्दिष्ट विषय या प्रत्यय एक मिश्र समष्टि है जिसका उसके सरल अवयवों में विश्लेषण किया जा सकता है एवं इस विश्लेषण के द्वारा 'शुभ' की परिभाषा हो सकती है। दूसरे विकल्प के अनुसार 'शुभ' पूर्णतः निरर्थक शब्द है और नीतिशास्त्र कोई विषय नहीं है। मूर के अनुसार प्रथम विकल्प निश्चित रूप से गलत है।"जो भी परिभाषा दी जाती है सार्थक रूप से यह प्रश्न पूँछा जा सकता है कि क्या यह समष्टि स्वयं शुभ है।"[17] इस युक्ति को 'सार्थक प्रश्न' या 'मुक्तप्रश्न' सम्बन्धी तर्क कहा जाता है। उदाहरण के लिये हम सुखवादियों की इस परिभाषा को ले सकते हैः शुभ वह है जो सुख उत्पन्न करता है अथवा शुभ सुख है। किन्तु हम सार्थक रूप से पूँछ सकते हैं : क्या सुख शुभ है ? यह प्रश्न निरर्थक नहीं है। पर यदि शुभ और सुख अभिन्न या समानार्थक हैं तो इसका अर्थ हुआ : क्या सुख सुख है? और शुभ सुख है का अर्थ हुआ सुख सुख है। पर कोई भी व्यक्तियह नहीं पूँछता कि क्या सुख, सुख है? और यह कथन कि सुख सुख है केवल पुनरुक्तिहै। किन्तु क्या सुख शुभ है एक सार्थक प्रश्न है और सुख शुभ है पुनरुक्तिनहीं है।"यह तथ्य कि हम इस सम्बन्ध में संशय करते हैं यह स्पष्ट कर देता है कि हमारे समक्ष दो अवधारणायें हैं।"[18] सुखवादी स्वयं यह नहीं मानेगा कि "सुख शुभ है" केवल पुनरुक्ति है और "क्या सुख शुभ है?" का अर्थ केवल यह नही है कि क्या सुख सुख है। नैतिक कथन संश्लेषणात्मक होते है एवं सार्थक रूप से उनका कथन एवं निषेध किया जाता है। जो व्यक्ति कहता है कि सुख शुभ नही है वह सार्थक कथन करता है, किन्तु यदि 'सुख' एवं 'शुभ' एकार्थक है तो 'सुख शुभ नही है' का अर्थ है 'सुख सुख नहीं है'। यह स्पष्टतः व्याघात है। सुखवादी दोनों बातें एक साथ स्वीकार नहीं कर सकते कि सुख शुभ है सत्य एवं वर्णनात्मक कथन है और 'सुख' तथा 'शुभ' का एक ही अर्थ है। यही बात अन्य परिभाषाओं के लिए भी सत्य है जैसे "विकसित चरित्र",

''इच्छा की तृप्ति'', ''रूचि का विषय'', ''समाज द्वारा अनुमोदित'' आदि। मूर के अनुसार तत्वमीमांसीय गुणों द्वारा भी शुभ की परिभाषा संभव नही है। हम यह नही कह सकते कि शुभ ''ईश्वर के आदेश का पालन है'' या ''आत्म विकास है'' आदि। इन पर सार्थक प्रश्न सम्बन्धी तर्क समान रूप से लागू होता है।

मूर के अनुसार शुभ को अपरिभाषेय न मानने का दूसरा विकल्प है 'शुभ' को निरर्थक मानते हुए नीतिशास्त्र का खण्डन करना। इसके विरोध में मूर कहता है कि यदि कोई भी व्यक्ति अन्तर्निरीक्षण करता है तो स्पष्ट हो जाता है कि उसके मन में शुभ एक विशिष्ट विषय के रूप में विद्यमान रहता है।

''यदि कोई व्यक्ति ध्यान पूर्वक जानना चाहता है कि जब वह प्रश्न करता है कि क्या सुख (या कुछ भी) शुभ है तो उसके मन में कौन सा विशिष्ट विषय विद्यमान है तो उसे स्पष्ट हो जायगा कि वह इस पर विचार नही कर रहा है कि क्या सुख सुखद है। यदि वह प्रत्येक दी गई परिभाषा पर क्रमशः विचार करता है तो उसे इसका निश्चित ज्ञान हो जायगा कि प्रत्येक स्थिति में उसके मन में एक विशिष्ट विषय है और किसी भी वस्तु से इसके सम्बन्ध के विषय में एक भिन्न प्रश्न पूँछा जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति वास्तव में यह प्रश्न जानता है कि 'शुभ क्या है'? जब वह इसके विषय में विचार करता है तो उसके मन की स्थिति उस समय से भिन्न होती है जब वह पूँछता है कि ''क्या यह सुखद, वांछित या अनुमोदित है।''[19] मूर का तात्पर्य यह है कि शुभ द्वारा निर्दिष्ट विषय अन्य सभी विषयों से भिन्न है । अतः 'शुभ' शव्द सार्थक है एवं नीतिशास्त्र संभव है।

प्रकृतिवादी तर्क दोष

मूर 'शुभ' को अपरिभाषेय मानते हुए शुभ की सभी परिभाषाओं में प्रकृतिवादी दोष मानता है। सर्व प्रथम वह 'शुभ' की उन परिभाषाओं पर विचार करता है जिनमें शुभ की परिभाषा किसी प्राकृतिक गुण द्वारा दी गई है। वह मानता है कि दार्शनिक शुभ तथा शुभ वस्तु में कोई भेद नही करते। उदाहरण के लिये सुखवादी सभी सुखद वस्तुओं को शुभ मानते हैं।

उनके अनुसार इन सभी वस्तुओं में सुख विद्यमान है, अतः वे मान लेते हैं कि सुख ही शुभ है। सुख एक प्राकृतिक गुण है जब कि शुभ निर्प्राकृतिक गुण है। प्राकृतिक गुण की परिभाषा प्राकृतिक गुण द्वारा की जा सकती है यदि यह प्राकृतिक गुण संश्लिष्ट है। सरल प्राकृतिक गुणों जैसे पीले की परिभाषा नही हो सकती। पर यदि इसकी परिभाषा दी जाती है तो इसमें प्रकृतिवादी दोष नहीं होगा। किन्तु शुभ एक सरल, अविश्लेष्य एवं निर्प्राकृतिक गुण है। इसकी परिभाषा किसी प्राकृतिक गुण द्वारा नहीं हो सकती। जब इस प्रकार की परिभाषा दी जाती है तो इस परिभाषा में प्रकृतिवादी दोष उत्पन्न हो जाता है। निर्प्राकृतिक गुण का किसी प्राकृतिक गुण से तादात्म्य मानना प्रकृतिवादी दोष है।[20] कुछ दार्शनिकों ने शुभ का ऐसे प्राकृतिक गुणों से तादात्म्य किया है जो शुभ वस्तुओं में है अवश्य किन्तु शुभ से भिन्न है। उदाहरण के लिए वे शुभ का तादात्म्य सुख, विकास, प्राकृतिक, रूचि, इच्छा-तृप्ति, सामाजिक अनुमोदन, वैयक्तिक अनुमोदन आदि से करते हैं। मूर कहता है:

"यह सत्य हो सकता है कि वे सभी वस्तुयें जो शुभ हैं कुछ और भी है, जैसे यह सत्य है कि वे सभी वस्तुयें जो पीली हैं कुछ विशेष प्रकाश तरंगें उत्पन्न करती हैं। और यह भी तथ्य है कि नीतिशास्त्र का उद्देश्य उन विशेषताओं की खोज करना है जो उन वस्तुओं में है जिन्हें शुभ् कहा जाता है। किन्तु अनेकों दार्शनिकों का मत है जब वे इन गुणों का नामकरण करते हैं तो वे वास्तव में शुभ की परिभाषा देते हैं, और ये विशेषतायें 'भिन्न' न हो कर पूर्णतः शुभ से अभिन्न हैं। इस मत को मैं 'प्रकृतिवादी दोष' कहना चाहता हूँ-- - - - - "[21]

प्रकृतिवादियों के अतिरिक्त अन्य दार्शनिकों ने भी शुभ की परिभाषा देने का प्रयास किया है। मूर उन्हें तत्व मीमांसीय सिद्धान्त के अन्तर्गत् रखता है। कुछ दार्शनिकों के अनुसार शुभ का अर्थ है ईश्वरीय आदेश का पालन, कुछ के अनुसार शुभ का अर्थ है आत्म-साक्षात्कार इत्यादि। ये गुण प्राकृतिक गुण नहीं है। किन्तु यहाँ भी शुभ का तादात्म्य किसी अन्य गुण से किया गया है। अर्थात् अन्य गुण के द्वारा शुभ की परिभाषा दी गई है। इस प्रकार इन परिभाषाओं में भी वही दोष निहित है जो प्रकृतिवादी परिभाषाओं में है। अतः मूर इन

परिभाषाओं को भी प्रकृतिवादी तर्क दोष से युक्त मानता है। दूसरे शब्दों में शुभ एक विशिष्ट, सरल, अविश्लेष्य निर्प्राकृतिक गुण है। इसकी परिभाषा किसी भी अन्य गुण द्वारा नही हो सकती-चाहे यह गुण प्राकृतिक हो या तात्त्विक। तात्पर्य यह है कि 'शुभ' अपरिभाषेय है और 'शुभ' की सभी परिभाषाओं में प्रकृतिवादी तर्कदोष निहित हैं। 'शुभ' की सभी परिभाषाएं इसलिए भी दोषपूर्ण हैं कि प्रत्येक प्रस्तावित परिभाषा पर सार्थक प्रश्न युक्ति का प्रयोग किया जा सकता है। उदाहरण के लिए यदि कहा जाय कि 'शुभ' वह है जिससे इच्छा की तृप्ति होती है तो हम पूँछ सकते हैं कि क्या जिससे इच्छा की तृप्ति होती है वह शुभ है? इसी प्रकार यदि 'शुभ' का अर्थ ही है इच्छा की तृप्ति तब "शुभ इच्छा की तृप्ति है" का अर्थ है "इच्छा की तृप्ति इच्छा की तृप्ति है" एवं "इच्छा की तृप्ति शुभ नहीं है" का अर्थ है "इच्छा की तृप्ति इच्छा की तृप्ति नहीं है।" किन्तु इनमें प्रथम मात्र पुनरुक्तिहै एवं द्वितीय केवल व्याघात,पर "इच्छा की तृप्ति शुभ है" एवं "इच्छा की तृप्ति शुभ नहीं है" सार्थक एवं सूचनात्मक कथन है जो आपातिक रूप से सत्य या असत्य हो सकते है। इन कारणों से मूर मानता है कि शुभ की सभी परिभापाओं में प्रकृतिवादी तर्क दोप अनिवार्यतः निहित है।

संक्षेप मे कुछ उदाहरणों द्वारा इस दोष की स्पष्ट किया जा सकता है। मूर कहता है कि कुछ दार्शनिक प्रकृति के आधार पर शुभ का निर्धारण करना चाहते हैं। किन्तु प्राकृतिक का अर्थ क्या है? जो भी प्रकृति से उत्पन्न है उसे शुभ नहीं कहा जा सकता । स्वास्थ्य एवं रोग दोनों प्राकृतिक है।[22] प्राकृतिक का अर्थ सामान्य भी नहीं हो सकता क्यों कि अनेक शुभ वस्तुयें असामान्य होती है। सुकरात एवं शेक्सपियर की प्रतिभा असामान्य थी। क्या इसे अशुभ मान लिया जाय?[23] स्पष्ट है कि प्रकृति शुभ का निर्धारण नहीं कर सकती। स्पेंसर का मत है कि जो अधिक विकसित है वह उत्तम है या अधिक अच्छा है। किन्तु स्पेंसर ने इसके लिये कोई तर्क नहीं दिया है। वह अर्थ के आधार पर मान लेते है कि अधिक अच्छा होने का अर्थ है अधिक विकसित होना। और यही प्रकृतिवादी तर्क दोष है।[24]

इसी प्रकार सुखवाद मूलतः इस तथ्य पर आधारित है कि शुभ एवं सुख को एकार्थक मान लिया गया है।[25] और यदि ऐसा है तो इसमें प्रकृतिवादी तर्क दोष निहित है। कुछ वस्तुओं

से हम प्रसन्न होते हैं, कुछ से अप्रसन्न। कुछ वस्तुयें सुखद होती है, कुछ दुख देने वाली। इसी प्रकार हम कुछ वस्तुओं का अनुमोदन करते हैं। मूर के अनुसार अनुमोदन एवं सुख की मानसिक स्थितियाँ भिन्न भिन्न है। यद्यपि दोनों में अन्तर करना कठिन है। यह भी सत्य है कि जब मैं अनुमोदन करता हूँ तो अनुमोदित वस्तु से सुख भी मिलता है, किन्तु अनुमोदन का सम्बन्ध शुभ से है और सुख इनसे भिन्न है।[26] स्पष्ट है कि दोनों को अभिन्न मानना प्रकृतिवादी दोष के कारण ही संभव होता है। मिल मानता है कि "परम साध्य से सम्बन्धित प्रश्न का निर्णय किसी प्रमाण से नहीं हो सकता।"[27] फिर भी वह सुख ही शुभ है के पक्ष में तर्क देता है। सर्व प्रथम वह 'इच्छा की गई' और इच्छा योग्य को एकार्थक मानकर गलती करता है। फिर वह इच्छा के कारण एवं इच्छा के विषय में अन्तर नही करता। मूर के अनुसार सुख इच्छा का कारण हो सकता है, किन्तु सुख सदैव इच्छा का विषय नहीं है।[28] इसी प्रकार मिल करता है कि सुख के अतिरिक्त अन्य वस्तु की इच्छा हो सकती है, किन्तु ये वस्तुयें सुख का साधन या घटक है। मूर के अनुसार मिल का यह तर्क पूर्णतः निरर्थक है।[29] सिजविक प्रज्ञा के आधार पर सुख को ही स्वतः शुभ मानता है। मूर का विचार है कि सुख एवं सुख की चेतना में अन्तर है और यदि सुख की चेतना न हो तो सुख का कोई महत्व नहीं है।[30] पर सुख की चेतना भी एक मात्र शुभ नहीं है क्यों कि सुखद अनुभव एक आंगिक एकता है और आंगिक एकता का शुभत्व किसी एक अवयव पर निर्भर नहीं है न सभी अंगों के योग पर।[31] अधिक से अधिक सुख को उचित का मानदण्ड माना जा सकता है।[32] प्रज्ञा से यह सिद्ध नहीं होता कि सुख ही स्वतः शुभ है। ऐसा मानता प्रकृतिवादी तर्क दोष के कारण संभव है। इसी प्रकार मूर ने तत्वमीमांसीय नीतिशास्त्र में प्रकृतिवादी दोष बताया है।

मूल्यांकन

मूर ने सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी के प्रज्ञावादियों का उल्लेख नहीं किया है। संभव है उन्होनें इनका अध्ययन भी न किया हो। किन्तु इन दार्शनिकों का भी वही मत है जो मूर का है। उदाहरण के लिए प्राइस ने दिखाया है कि 'शुभ', 'उचित' तथा 'कर्तव्य' द्वारा एक सरल गुण

का निर्देश होता है और इसी लिए ये शब्द अपरिभाषेय है। इन्हे उस दोष का भी ज्ञान था जो शुभ की परिभाषा से उत्पन्न होता है, यद्यपि उन्होने 'प्रकृतिवादी तर्क दोष' का प्रयोग नही किया है। इनके अनुसार न तो 'शुभ' अथवा 'उचित' की परिभाषा सुख आदि प्राकृतिक गुणों द्वारा हो सकती है, न ***ईश्वरीय आदेश*** जैसे निर्नैतिक पदों के द्वारा। रिचर्ड प्राइस का कहना है कि यदि 'शुभ' या 'उचित' की परिभाषा सुख या ईश्वरीय आदेश के रूप में की जाती है तो इन परिभाषाओं को केवल पुनरूक्ति के रुप में ही स्वीकार किया जा सकता है।[33] शैफ्ट्सवरी एवं हचिसन ने भी इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया है। अतः इस सन्दर्भ में मूर के विचार मौलिक नही माने जा सकते। पर यदि मूर ने इन विचारों का प्रतिपादन न किया होता तो वर्तमान शताब्दी में नैतिक दर्शन में इतनी बड़ी क्रान्ति संभव न होती। महत्व मूर के सिद्धान्तों का नही है, महत्व उसके द्वारा उठाये गये प्रश्नों का एवं अन्य सिद्धान्तों की आलोचना का है।

मूर ने शुभ का विवेचन करते समय निश्चित रूप से अर्थ के निर्देशात्मक सिद्धान्त का प्रयोग किया है। उसके अनुसार 'शुभ' का अर्थ एक विशिष्ट "वस्तु या प्रत्यय है"। किन्तु हम प्रथम अध्याय में देख चुके हैं कि किसी शब्द का अर्थ कोई वस्तु नहीं है। अनेकों शब्द किसी वस्तु का निर्देश नही करते है, किन्तु जो शब्द वस्तु का निर्देश करते हैं उनका भी अर्थ निर्दिष्ट वस्तु नहीं है। जैसा विट्गेंस्टाइन कहता है वस्तु केवल पद का धारक है, अर्थ नहीं। प्रयोग सिद्धान्त के अनुसार महत्व इस बात का है कि भाषा का प्रयोजन किसी विशेष सन्दर्भ में क्या है। संवेगवादियों एवं परामर्श वादियों ने भाषा के इसी पक्ष पर बल दिया है। निर्देशात्मक सिद्धान्त के अतिरिक्त मूर के सिद्धान्त में एक दूसरी कठिनाई यह है कि उसने 'शुभ' का अर्थ वस्तु या प्रत्यय किया है। किन्तु वस्तु एवं प्रत्यय दो भिन्न भिन्न कोटियों के विषय है। न तो वस्तु प्रत्यय है न प्रत्यय वस्तु। संभवतः 'वस्तु या प्रत्यय' से मूर का तात्पर्य गुण से है और गुण प्रत्यय तथा वस्तुओं से भिन्न है। यदि शुभ गुण है तो 'शुभ' शब्द केवल वर्णनात्मक है। किसी वस्तु को पीली कहने का अर्थ है उसके एक गुण का वर्णन करना, किन्तु जब हम कहते हैं

कि 'अ शुभ है' तो हम अ का वर्णन नही करते, उसका मूल्यांकन करते है। इसी प्रकार शुभ को मूर केवल गुण ही नही मानते, वे इसे एक निर्प्राकृतिक गुण कहते है। किन्तु प्राकृतिक एवं निर्प्राकृतिक गुणों में क्या अन्तर है? मूर ने *'प्रिंसिपिया'* में दोनों गुणों का अन्तर इस आधार पर किया है कि प्राकृतिक गुण समय में उस वस्तु से स्वतंत्र होकर रह सकते हैं जिसके वे गुण हैं, किन्तु निर्प्राकृतिक गुण का स्वतंत्र अस्तित्व संभव नहीं है। वह लिखता है;

"क्या हम यह कल्पना कर सकते है कि शुभ किसी प्राकृतिक वस्तु के गुण के रूप में न होकर, काल के अन्तर्गत स्वतः बना रह सकता? जहॉ तक मेरा सम्बन्ध है मैं यह कल्पना नहीं कर सकता, और जिन्हें मै प्राकृतिक गुण कहता हूँ उनके सम्बन्ध में यह अवश्य प्रतीत होता है कि उनका अस्तित्व उन वस्तुओं से स्वतंत्र रूप में संभव है जिनका वे गुण है।"[34]

किन्तु क्या यह संभव है? सी. डी. ब्राड ने अपने लेख *'सर्टेन फीचर्स इन मूर्स एथिकल डाक्ट्रिंस'*[35] मे इस अन्तर को दोषपूर्ण बताया है। ब्राड के अनुसार मूर की कसौटी स्वीकार करने पर कोई गुण प्राकृतिक गुण नहीं माना जा सकता। क्या वास्तव में पीला रंग विना पीली वस्तु के संभव है? क्या किसी वस्तु का आकार बिना उस वस्तु के संभव है? स्पष्ट है, नहीं। स्वयं मूर ने इस आलोचना को स्वीकार किया है। इस आलोचना के प्रकाश में मूर ने लिखा है:

"मैं इस सम्बन्ध में ब्राड से पूर्णतः सहमत हूँ। मैं यह विश्वास नहीं करता कि प्राकृतिक गुणों का काल में पृथक अस्तित्व संभव है, मै निश्चित रूप से मानता हूँ कि ऐसा नही हो सकता। मैंने *प्रिंसिपिया* में जो मत व्यक्त किया था वह अब मुझे मूर्खतापूर्ण एवं असंगत प्रतीत होता है"[36]

किन्तु ब्राड की आलोचना से पहले ही मूर ने एक लेख *'द कन्सेप्शन आव इन्ट्रिन्सिक वैल्यू'*[37] में अन्तर पर संदेह व्यक्त किया है। इस लेख में वह निर्प्राकृतिक गुण को आन्तरिक मूल्य कहता है। उसके अनुसार "किसी मूल्य को आन्तरिक कहने का अर्थ है कि इस प्रश्न का उत्तर कि किसी वस्तु में यह है या किस मात्रा में है इस बात पर निर्भर करता है कि उस

वस्तु का आन्तरिक स्वरूप क्या है।"[38] अर्थात आन्तरिक मूल्य वस्तु के आन्तरिक स्वरूप पर निर्भर है। इसके दो निहितार्थ है;

(1) किसी भी वस्तु के लिये, विना उसके स्वरूप में परिवर्तन हुये यह असंभव है कि कभी उसमें यह गुण रहे, कभी न रहे।

(2) यदि दो वस्तुओं के आन्तरिक स्वरूप समान है तो यह असंभव है कि एक में आन्तरिक मूल्य हो और दूसरे में न हो।

इसका अर्थ यह है कि अब मूर के अनुसार शुभ एक आश्रित गुण (सुपरवीनियण्ट या डेपेंडेंट प्रापर्टी) है। हम कह सकते हैं कि प्राकृतिक गुण वस्तु के अन्य गुणों पर आश्रित नहीं है जब कि निर्प्राकृतिक गुण अन्य गुणों पर आश्रित हैं। आश्रित गुण की अवधारणा में अपनी कठिनाइयॉ हैं जिस पर मै आगे विचार करूँगा।

मूर की इस अवधारणा में भी अन्त में परिवर्तन हो जाता है। स्टीवेंसन की आपत्तियों के सन्दर्भ में मूर ने लिखा है :

"मैं सोचता हूँ कि 'उचित', 'अनुचित', 'चाहित' तथा 'कर्तव्य' नैतिक अर्थ में गुणों के नाम नहीं हैं, इन शब्दों का अर्थ संज्ञानात्मक न होकर केवल संवेगात्मक है। यदि यह सत्य है तो अवश्य ही 'शुभ' के लिए भी यही कहा जा सकता है। ....मैं सोचता हूँ कि ऐसा ही है, किन्तु मै यह भी सोचता हूँ कि ऐसा नहीं है; मै यह नहीं जानता कि इस विषय में मेरा निश्चित मत क्या है।"[39]

स्पष्ट है कि 1942 तक मूर के मत में बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया था और एक प्रकार से उसकी मनः स्थिति संशय की थी।

किन्तु उसके दो सिद्धान्तों का परवर्ती नैतिक दर्शन एवं नैतिक तर्कना पर गंभीर प्रभाव पड़ा है। शुभ से सम्बन्धित आश्रित गुण की अवधारणा का प्रभाव किसी न किसी रूप में स्टीवेंसन एवं हेअर के विचारों पर पड़ा है। इसी प्रकार उसका सार्थक प्रश्न सम्बन्धी तर्क अब भी महत्वपूर्ण है। सार्थक प्रश्न सम्बन्धी तर्क के प्रयोग के लिए शुभ को गुण मानना भी आवश्यक

नही है। शुभ का स्वरूप जो भी हो शुभ की उपलब्ध परिभाषाओं पर इसका प्रयोग किया जा सकता है। यद्यपि इस तर्क से यह सिद्ध नहीं होता कि शुभ की परिभाषा प्रागनुभविक रूप से असंभव है, पर अर्थ पर आधारित परिभाषाओं के खण्डन में यह युक्ति समर्थ है। इसी से मिलते-जुलते कारणों से संवेगवादियों एवं परामर्शवादियों ने शुभ को अपरिभाषेय माना है। किन्तु नव्य प्रकृतिवादियों ने शुभ को "मानव हित" या "मानव प्रसन्नता" से सम्बद्ध करते हुए इसे परिभाषित करने का प्रयास किया है। इसी प्रकार जी. सी. कर्नर ने अपनी पुस्तक '*द रेवोलूशन इन एथिकल थ्योरी*'[40] में बताया है कि जिसे मूर उपयुक्त शाब्दिक परिभाषा कहता है उसे मात्र शाब्दिक नहीं माना जा सकता[41]। यह परिभाषा केवल प्रयोग ही नहीं बताती, इसके द्वारा निर्दिष्ट विषय का भी कुछ ज्ञान अवश्य होता है। मूर कृत शाब्दिक एवं वास्तविक परिभाषा का भेद संतोषजनक नही है। कुछ दार्शनिको का विचार है कि शुभ इसलिए अपरिभाषेय है कि वह सरल न होकर एक संश्लिष्ट प्रत्यय है। जो भी हो नैतिक तर्क की समस्या पर शुभ की सरलता का प्रभाव पड़ा है।

नैतिक युक्ति

मूर के अनुसार नैतिक शब्दों एवं निर्णयों का स्पष्ट ज्ञान होने पर ही हम कह सकते हैं कि नैतिक निर्णयों के समर्थन में किस प्रकार के प्रमाण दिये जा सकते हैं। '*प्रिंसिपिया*' में वह लिखता है' "हम तब तक नहीं जान सकते कि नैतिक प्रतिज्ञप्ति किस प्रमाण पर आश्रित हैं जब तक हमें उस अवधारणा का ज्ञान नहीं हो जाता जो इस प्रतिज्ञप्ति को नैतिक बनाती है" (पृ०143) उसके अनुसार नैतिकता की मुख्य अवधारणा "शुभ" है। उचित, कर्तव्य, नैतिक दायित्व आदि की परिभाषा एवं व्याख्या शुभ से हो जाती है। किन्तु शुभ सरल, अविश्लेष्य, निर्प्राकृतिक गुण है। इसका ज्ञान न इन्द्रिय प्रत्यक्ष से हो सकता है, न किसी तर्क या युक्ति से। पीला होना प्राकृतिक गुण है। इसका ज्ञान तर्क से नहीं होता, किन्तु इन्द्रिय प्रत्यक्ष से इसका अनुभव हो जाता है। पर शुभ निर्प्राकृतिक गुण है। इसका इन्द्रिय अनुभव संभव नहीं है। इसी प्रकार शुभ एवं तथ्य में तार्किक अन्तर है जिसके कारण शुभ का ज्ञान किसी युक्ति

से नही हो सकता जिस प्रकार शुभ अपरिभाषेय है उसी प्रकार 'यह शुभ है' का समर्थन किसी तर्क से नही हो सकता। इस प्रकार के निर्णय संश्लेषणात्मक है, विश्लेषणात्मक नही। अतः अर्थ के आधार पर किसी तर्क की रचना नहीं हो सकती। "यह शुभ है" स्वतः सिद्ध है। इसका निगमन किसी अन्य प्रतिज्ञप्ति से नहीं हो सकता।[42]

इस प्रकार एक अर्थ में, मूर के अनुसार, नैतिक तर्क असंभव है। जिन निर्णयों का सम्बन्ध शुभत्व अथवा आन्तिरक मूल्य से हैं उनका निगमन किसी अन्य कथन से नही हो सकता। इनका ज्ञान अपरोक्ष बोध से ही हो सकता है। अपरोक्ष बोध प्रत्यक्ष के समान है किन्तु यह बोध इन्द्रियों के माध्यम से नहीं होता। इसीलिए इसे प्रज्ञा कहा जाता है। यदि कोई व्यक्ति कहता है "क शुभ है" और दूसरा कहता है " नहीं, क शुभ नही है" तो विवाद का समाधान करने के लिए हम इन व्यक्तियो को पुनः अन्तर्निरीक्ष के लिए कह सकते है। अपरोक्ष अनुभव ही इस स्थिति में निर्णायक हो सकता है। यहाँ तर्क के लिए कोई स्थान नही रह जाता।

1922 में प्रकाशित मूर की पुस्तक ***'फिलॉस्फिकल स्टडीज"*** में संकलित ***'द कन्सेप्शन ऑफ इन्ट्रिन्सिक वैल्यू'*** लेख में मूर के विचारों में कुछ परिवर्तन होता है। इस लेख में शुभ या आन्तरिक मूल्य को आश्रित या परिणामी गुण माना गया है। अर्थात् शुभ-शुभ वस्तु के आन्तरिक गुणों पर निर्भर् है या उनका परिणाम है। इसके दो निहितार्थ हैं। (1) किसी भी एक वस्तु के लिए यह असंभव है कि कभी उसमें यह गुण हो और कभी न हो, अथवा एक परिस्थिति में यह गुण हो और भिन्न परिस्थिति में न हो। (2) यदि दो वस्तुओं के आन्तरिक गुण समान हों तो यह असंभव है कि एक में यह गुण हो और दूसरी में न हो। किन्तु 'असंभव' अथवा 'अनिवार्यतः' का क्या अर्थ है? मूर ने तीन अर्थों पर विचार किया है। प्रथम अर्थ के अनुसार अनिवार्यता तथ्यात्मक अनिवार्यता है। इसके अनुसार केवल एक वस्तु है या थी या होगी जिसमें इस गुण का अभाव नहीं हो सकता। किन्तु मूर इसे वास्तविक गुण तक सीमित नहीं रखना चाहता। यह गुण उस वस्तु में भी होना चाहिए जो हो सकती है या हो सकती थी या भविष्य में हो सकती है। अतः तथ्यात्मक अनिवार्यता उपयुक्त नहीं है। दूसरी अनिवार्यता कारणात्मक

अनिवार्यता है। इसके अनुसार यदि कोई मूल्य आन्तरिक मूल्य है तो इसका अर्थ है कि यह कारणात्मक रूप से आवश्यक है कि इसके सदृश अन्य वस्तुओं में भी यह गुण है। किन्तु मूर का मत है कि एक ऐसे विश्व में जिसमें वास्तविक जगत् से भिन्न कारणात्मक नियम हों वहाँ भी आन्तरिक गुण समान वस्तुओं में अवश्य होना चाहिए। तीसरे अर्थ के अनुसार अनिवार्यता तार्किक है। तार्किक अनिवार्यता के लिए मूर ने यह उदाहरण दिया है "जो भी समकोण त्रिभुज है वह त्रिभुज"[43]। किन्तु मूर के अनुसार यह नही कहा जा सकता कि यह तार्किक निगमन से सिद्ध होता है कि यदि किसी वस्तु में आन्तरिक मूल्य है तो इसके समान अन्य किसी वस्तु में भी यह मूल्य होगा।[44] मूर इस तीसरे अर्थ का निषेध इसलिए करता है कि इसे स्वीकारने पर (1) निर्प्राकृतिक एवं कुछ प्राकृतिक गुणों का अन्तर समाप्त हो जाएगा; (2) स्वयं उसकी स्थिति कुछ प्रकृतिवादी दार्शनिकों के समान हो जाएगी एवं (3) शुभ को परिभाषेय मानना पड़ेगा।[45] दूसरे शब्दो में शुभ को आश्रित गुण कहने का तात्पर्य यह है कि कोई वस्तु केवल इस लिए शुभ है कि उसमें शुभ का निर्धारण करने वाले प्राकृतिक गुण हैं। यदि किसी वस्तु में य, र, ल गुण हैं तो वह अनिवार्यतः शुभ है। किन्तु 'यदि-तो' एवं 'अनिवार्यतः' का प्रयोग तार्किक अर्थ में नहीं किया गया है। यदि य, र, ल एवं शुभ में तार्किक सम्बन्ध होता तो नैतिक तर्क संभव हो जाता। पर ऐसा नहीं है। और दोनों में सम्बन्ध की अनिवार्यता किस प्रकार की है इसके विषय में मूर का कोई निश्चित मत नहीं है। अतः आश्रित गुण मानने पर भी 'क शुभ है' के पक्ष या विपक्ष में कोई युक्ति संभव नही है। किसी वस्तु के शुभत्व और शुभत्व का निर्धारण करने वाले गुणों में जो भी अनिवार्य सम्बन्ध है उसका ज्ञान प्रज्ञा से ही हो सकता है।

किन्तु मूर *प्रिंसिपिया* में एक अन्य नैतिक संप्रत्यय के सम्बन्ध में युक्तियों की आवश्यकता स्वीकार करता है। शुभत्व या आन्तरिक मूल्यों से सम्बन्धित निर्णय एक मात्र नैतिक निर्णय नहीं है। व्यावहारिक नीतिशास्त्र का सम्बन्ध शुभत्व से उतना नहीं है जितना 'मुझे क्या करना चाहिए?' से है।[46] और उसके अनुसार इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए नैतिक युक्तियों अथवा

तर्कना का उपयोग संभव है। मूर के अनुसार "मुझे नैतिक रूप से यह कार्य करना चाहिए" का अर्थ है "किसी अन्य संभावित विकल्प की अपेक्षा इस कार्य से सम्पूर्ण जगत् अधिक अच्छा होगा।" [47] इसका अर्थ है कि "मुझे क्या करना चाहिए?", "मेरा कर्तव्य क्या है?" आदि प्रश्नों के उत्तर के पक्ष में तर्क देना संभव है। उचित, कर्तव्य, चाहिए आदि के सम्बन्ध में जो भी निर्णय दिया जाता है न तो उसका ज्ञान प्रज्ञा से होता है, न ये निर्णय स्वतः सिद्ध होते हैं। यदि इनके सम्बन्ध में कोई विवाद उत्पन्न होता है तो इसका समाधान तर्क से संभव है। इन संप्रत्ययों के सम्बन्ध में मूर उपयोगितावाद का समर्थन करता है, यद्यपि उसका उपयोगितावाद सुखवादी नही है। कोई कार्य या नियम उचित है यदि इससे अन्य संभावित कर्मों की अपेक्षा अधिक शुभ की उत्पत्ति होती है। किन्तु शुभ एवं सुख में तादात्म्य नहीं है। उसका उपयोगितावाद आदर्श उपयोगितावाद है।

"कौन सा कार्य उचित है?" इस प्रश्न के तुल्य है कि "कौन कार्य अच्छे परिणाम का साधन है?" और इसका उत्तर कारणात्मक सम्बन्ध पर निर्भर है। इस प्रकार उचित और उपयोगी में कोई अन्तर नहीं है एवं साध्य से साधन का औचित्य प्रमाणित हो जाता है। कार्यों के परिणाम का निश्चय किस प्रकार होता है? (1) मूर के अनुसार प्रत्येक परिस्थिति में हमारे लिए जितने भी कार्य संभव है उनमें किस कार्य से सर्वोत्तम सम्पूर्ण परिणाम उत्पन्न होगा इसका आकलन करना असंभव होगा। प्रत्येक कार्य का सम्पूर्ण विश्व में सभी परिस्थितियों में क्या परिणाम होगा इसे प्रमाणित नहीं किया जा सकता। इस अर्थ में कर्तव्य का निर्धारण असंभव है (2) यह सिद्ध करना संभव हो सकता है कि हम जिन कार्यों को करने का विचार करते है उनमें किससे सबसे अच्छा परिणाम हो सकता है। इन दोनों में अन्तर यह है कि पहले में सभी संभावित कार्यों पर विचार करना है जबकि दूसरे केवल उन कार्यों पर जो हम किसी विशेष स्थिति में सूझते है।[48] किन्तु मूर के अनुसार यह सीमित कार्य भी कठिन है। कारण यह है कि (अ) हम निकट भविष्य में ही होने वाले परिणामों का निर्धारण कर सकते हैं और हमें मान लेना होगा कि असीमित भविष्य में इस परिणाम पर विपरीत प्रभाव नहीं पड़ेगा। किन्तु

इस मान्यता का औचित्य सिद्ध करना कठिन है[49]। (ब) मूर कहता है कि दो कार्यों में भी किस कार्य का निकट भविष्य में अधिक अच्छा परिणाम होगा इसका निश्चय भी कठिन है और यह सिद्ध करना लगभग असंभव है कि किसी एक कार्य से साधन रूप में सभी स्थितियो में दूसरे कार्य से अच्छा परिणाम होगा। अतः कर्तव्य के नियम इस अर्थ में भी अधिक से अधिक सामान्य सत्य ही हो सकते हैं।[50] इस प्रकार मूर का मत है कि कार्यों के परिणामों को निश्चित रूप से सिद्ध करना संभव नहीं है।

कारणात्मक निर्धारण की कठिनाइयों को देखते हुए मूर एक अन्य संभावना का समर्थन करता है। उसके अनुसार अधोलिखित आधारों पर अधिकतर कार्य जो सामान्य मत द्वारा सबसे अधिक अनुमोदित है को साधन के रूप में अन्य विकल्पों की अपेक्षा अधिक अच्छा सिद्ध किया जा सकता है। (1) कुछ नियमों के लिये यह दिखाया जा सकता है कि उनका पालन ऐसे किसी समाज के लिए उपयोगी है जिसमें जीवन की सुरक्षा एवं उत्पत्ति तथा संपत्ति की प्रवृत्तियाँ बहुत ही प्रबल है। इनका समर्थन बिना इस पर विचार किये किया जा सकता है कि कौन सी वस्तुएं शुभ हैं क्योंकि इनका पालन उन वस्तुओं के लिए आवश्यक है जो किसी भी शुभ की प्राप्ति के साधन हैं। [51] (2) अन्य नियम ऐसे नियम है जिनका पालन तभी उपयोगी है जब ये कमोवेश सामयिक परिस्थितियों में समाज की रक्षा के साधन हों। इनमें से कुछ को सभी समाजों के लिए उपयोगी माना जा सकता है यदि ये उन वस्तुओं के कारण हैं जो स्वतः शुभ या अशुभ है।[52] यह स्पष्ट है कि प्रथम प्रकार के कार्यों या नियमों का औचित्य दूसरे प्रकार के द्वारा भी सिद्ध किया जा सकता है। अतः मूर मानता है कि वर्तमान के लिए ऐसे सभी कार्यों की उपयोगिता सिद्ध की जा सकती है जिन्हें हमारे समाज में सामान्यतः कर्तव्य माना जाता है और जिनका हम सामान्यतः पालन करते है। किन्तु इसमें संशय है कि हम प्रचलित प्रथाओं में, बिना स्वतः शुभ पर विचार किये कोई परिवर्तन कर सकते है। [53]

यदि हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि कोई व्यक्ति विशेष (अ) उस स्थिति में जिसमें कार्य की उपयोगिता निश्चित है एवं (ब) अन्य स्थितियों में किस प्रकार निर्णय करे तो हम

कह सकते है कि (अ) के विषय में जहॉ नियम का सामान्यतः पालन भी किया जाता है उसे प्रथा से नहीं हटना चाहिए। किन्तु यह कारण तब निर्णायक नहीं है यदि कार्य की उपयोगिता या पालन स्पष्ट नहीं है। (ब) अन्य स्थितियों में कार्य के नियमों का पालन नहीं करना चाहिए, बल्कि व्यक्ति को देखना चाहिए कि विशेष स्थिति में वह किस भावात्मक शुभ को उत्पन्न कर सकता है या अशुभ का निराकरण कर सकता है।[54]

मूर का विचार है कि कर्तव्य एवं उपयोगी अथवा हितकर में कोई अन्तर नहीं है। उसके अनुसार कर्तव्यों का निश्चय निनैर्तिक आधारों पर किया जाता है। (1) बहुत से व्यक्ति उनसे बचना चाहते हैं। (2) इनका प्रभाव प्रायः कर्त्ता पर नहीं बल्कि दूसरों पर पड़ता है। (3) इनसे नैतिक भावनाये जाग्रत होती है। अतः मूर उचित एवं कर्तव्य को नैतिक संप्रत्यय नही मानता और इनकी व्याख्या शुभ के साधन के रूप में करता है।

उपरोक्त विवेचन से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। (1) मूर ने दो प्रकार के संप्रत्ययों में भेद किया है : शुभत्व का संप्रत्यय एवं उचित, कर्तव्य आदि का संप्रत्यय। उसके अनुसार उचित, कर्तव्य आदि के सम्बन्ध में नैतिक तर्कना संभव है। किसी कार्य या नियम का औचित्य इस बात पर निर्भर है कि यह शुभ की उत्पत्ति का सर्वोत्तम साधन या कारण है अथवा नहीं। इस प्रकार की युक्तियों का स्वरूप केवल कारणात्मक युक्तियों की श्रृंखला है। किन्तु जैसा कर्नर का मत है "कारण एवं कार्य से सम्वन्धित युक्तियॉ उपयुक्त नैतिक युक्तियों का अंग नही है।"[55] अधिक से अधिक उन्हें नैतिक युक्तियों की पूर्ववर्ती स्थिति के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

(2) किन्तु यदि कारणात्मक युक्तियों को नैतिक महत्व दिया जाता है तब भी नैतिक तर्कना अप्रासंगिक हो जाती है। मूर ने स्वयं माना है कि सभी संभावित विकल्पों पर विचार नहीं कर सकते, और जो विकल्प कर्ता के मन में आते हैं उनके भी दूरवर्ती या निकट भावी परिणामों का भी आकलन कठिन है। अतः मूर उन नियमों का समर्थन करता है जिनकी उपयोगिता सामान्य व्यवहार में सामान्यतः मानी जाती है और जिनका पालन समाज में सामान्य रूप से

किया जाता है। जिस स्थिति में इनका अभाव है या जब कोई व्यक्ति प्रथाओं में परिवर्तन करना चाहता है तो उसे शुभत्व का निश्चय करने के साथ-साथ कार्य के परिणाओं का आकलन करना आवश्यक है। परन्तु जैसा मूर स्वयं मानता है कि कारणात्मक परिणामों का आकलन असंभव है एवं शुभत्व का बोध केवल प्रज्ञा से हो सकता है। इस प्रकार मूर यथास्थिति या प्रथाओं का समर्थन करने के लिए बाध्य है। उसके नीतिशास्त्र में व्यक्ति की स्वतंत्रता लगभग समाप्त हो जाती है एवं नैतिक तर्कना के लिए कोई स्थान नही रह जाता। यदि कारण के रूप में कार्य के परिणाम का आकलन संभव मान लिया जाए तब भी शुभत्व का ज्ञान प्रज्ञा पर ही निर्भर है। शुभत्व के लिए कोई तर्क नही दिया जा सकता।

नैतिक तर्क पर मूर का परिवर्ती मत

प्रिंसिपिया के बाद उसकी दूसरी पुस्तक *एथिक्स* एवं लेख *एक रेप्लाई टु माई क्रिटिक्स* में नैतिक तर्कना का एक दूसरा सिद्धान्त मिलता है। बाद की रचनाओं में वह मानता है कि नैतिकता के एक नहीं बल्कि दो अविश्लेष्य संप्रत्यय है और ये दोनों संप्रत्यय तार्किक रूप से समतुल्य हैं। अब वह इस सिद्धान्त का त्याग कर देता है कि 'चाहिए' की परिभाषा 'शुभ' द्वारा हो सकती है या नैतिक दायित्व की व्याख्या आन्तरिक मूल्य द्वारा संभव है। *एथिक्स* में वह दो प्रतिज्ञप्तियाँ देता है –एक में दायित्व का संप्रत्यय है और दूसरे में आन्तरिक मूल्य का। ये दोनों प्रतिज्ञप्तियाँ हैं :

(1) यह अधिक अच्छा होगा यदि केवल अ का अपने आप में अस्तित्व हो बजाय ब का अपने आप में अस्तित्व होने से।

(2) मान लीजिए हमें दो विकल्पों में चुनाव करना पड़े जिनमें एक परिणाम केवल अ हो और दूसरे का परिणाम केवल ब हो तो हमारा कर्तव्य होगा कि हम प्रथम का चुनाव करें दूसरे का नही।[56] इसी प्रकार *एक रेप्लाई टु माई क्रिटिक्स* में मूर ने तर्कवाक्यीय फलनों के अनेकों युग्म दिया है जिसमें तार्किक समतुल्यता के वे सम्बन्ध निश्चित किए जा सकें जो आन्तरिक मूल्य एवं नैतिक दायित्व के मध्य संभव हैं। उसके उदाहरण जटिल हैं। हम केवल एक का उदाहरण देंगे।

अ. ''यदि किसी वस्तु स्थिति में

प्राकृतिक आन्तरिक गुण श

है

कभी था

कभी होगा

हो सकता था

था

तो यह

आन्तरिक रूप से शुभ

है

था

होगा

हो सकता था

हुआ होता''

निगमित होता है

ब. ''यदि कोई ऐसा कर्त्ता था जो किसी भी जगत् के अस्तित्व के पूर्व जानता था कि यदि वह चुनाव करता तो वह ऐसे जगत का निर्माण कर सकता था जिसमें प्राकृतिक आन्तिरक गुण श होता, और यह भी जानता कि वह यह चुनाव कर सकता था और अन्त में यह भी जानता कि यदि वह इसका निर्माण न करता तो कोई जगत् न होता; तब यह उसका कर्तव्य था या होता, बशर्ते वह इसे अनुचित न सोचता, कि वह इसका चुनाव करे'' से। इसी प्रकार ब का निगमन अ के प्रत्येक फलन से होता है।[57]

अर्थात् कारणात्मक सम्बन्धों का निर्धारण हो जाने पर भी नैतिक निर्णय के पक्ष में तर्क देना संभव है। नैतिक निर्णय केवल 'यह शुभ है' नहीं है। नैतिक निर्णय आन्तरिक मूल्य एवं नैतिक

दायित्व दोनों के सम्बन्ध में संभव है। दोनों में अभेद नहीं है, केवल समतुल्यता है। इतना अवश्य है कि अब भी कुछ निर्णय स्वतः सिद्ध होते है। कभी ये स्वतः सिद्ध निर्णय शुभ से सम्बन्धित हैं, कभी नैतिक दायित्व से। मूर द्वारा प्रतिपादित तार्किक समतुल्यता के नियम अनुमान के नियमों के समान हैं जिनके द्वारा आधार वाक्यों से निष्कर्ष का निगमन किया जा सके। मूर का विश्वास था कि उसके ये नियम 'शुभ', 'उचित' आदि के वास्तविक प्रयोगों को सत्य रूप से परिलक्षित करते हैं।

किन्तु मूर के इस सिद्धान्त में भी दो कठिनाइयाँ हैं। प्रथम, अभी भी कुछ गुणों का ज्ञान करने के लिए प्रज्ञा आवश्यक है। उसी से कुछ निर्णयों की स्वतः सिद्धता का बोध होता है। दूसरे, नैतिक निर्णयो मे इच्छा, अभिप्राय, चुनाव, निर्णय आदि का होना अनिवार्य है जिसकी व्याख्या करने का मूर कोई प्रयास नहीं करता।

प्रिचर्ड एवं रॉस

नैतिक तर्क की समस्या पर प्रिचर्ड एवं रॉस के सिद्धान्तों में कुछ भी महत्वपूर्ण नहीं है। मूर ने कम से कम उचित के सम्बन्ध में और बाद में शुभ एवं उचित दोनों के लिए किसी न किसी रूप में तर्कों को स्वीकार किया था। यह एक भिन्न बात है उसे इसमें सफलता नहीं मिली। किन्तु प्रिचर्ड एवं रॉस ने नैतिक युक्तियों की संभावना का ही खण्डन किया। संक्षेप में हम केवल इतना ही स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे कि इनके अनुसार तर्क की आवश्यकता क्यों नहीं है। प्रिचर्ड एवं रॉस ने पूर्ण रूप से प्रज्ञावाद का समर्थन किया है। ***प्रिंसिपिया*** में मूर ने केवल शुभ को प्रज्ञा का विषय माना था। किन्तु प्रिचर्ड एवं रॉस के अनुसार शुभ एवं उचित अथवा नैतिक दायित्व दोनों की अविश्लेष्य प्रत्यय हैं। एक की परिभाषा दूसरे से नहीं हो सकती। मूर साध्यवादी है जबकि ये दोनों दार्शनिक विधानवादी है। इनके अनुसार शुभ के समान उचित भी सरल, अविश्लेष्य, अपरिभाषेय, निर्प्राकृतिक गुण है। इनका बोध न इन्द्रियानुभव से होता है, न तर्क से। केवल प्रज्ञा से ही उचित एवं शुभ का ज्ञान संभव है।

प्रिचर्ड ने 1912 में एक लेख लिखा था; *इज मॉरल फिलॉसफी रेस्ट आन ए मिस्टेक*? उसका उत्तर है कि नैतिक दर्शन वास्तव में एक भूल पर आश्रित है। सामान्यतः दार्शनिक यह प्रश्न उठाते हैं कि हम अपने कर्तव्य का पालन क्यों करें? इस प्रश्न के मोटे तौर पर दो उत्तर दिये गये हैं। (1) हमें अपने कर्तव्य का पालन इसलिए करना चाहिए क्योंकि इससे शुभ परिणाम उत्पन्न होते हैं या अपना तथा दूसरों का हित सिद्ध होता है या इसके परिणाम सुखद होते है। अर्थात् परिणाम ही कर्तव्य का हेतु है। (2) हमें अपने कर्तव्य का पालन इसलिए करना चाहिए क्योंकि कर्तव्य शुभ होता है। प्रिचर्ड के अनुसार ये दोनों उत्तर गलत हैं। कर्तव्य पालन में न तो परिणाम पर विचार किया जाता है न उसके शुभत्व पर। हम अपने वचन का पालन इसलिए नहीं करते कि इसका परिणाम अच्छा है या वचन का पालन स्वतः शुभ है। वचन में ही वचन का पालन निहित है। प्रिचर्ड ने अपने अन्य लेखों में इस सिद्धान्त का विकास किया है। ये लेख उसकी दो पुस्तकों–*मॉरल ओब्लीगेशन* (आक्सफोर्ड, 1949) एवं *मॉरल ओब्लीगेशन ऐण्ड ड्यूटी ऐण्ड इन्टरेस्ट आक्सफोर्ड,* 1968) में संकलित हैं।

प्रिचर्ड के अनुसार किसी भी स्थिति में हम प्रज्ञा से जान सकते हैं कि इसके अन्तर्गत कौन सा कार्य उचित या दायित्व पूर्ण होगा किन्तु पहले कुछ विचार आवश्यक हैं। प्रिचर्ड ने कार्य के औचित्य को इस प्रकार परिभाषित किया है : "यह एक निश्चित परिस्थिति में एक निश्चित प्रकार अ की उत्पत्ति है, जहॉ परिस्थिति कर्ता का अन्य से या स्वयं अपनी प्रकृति से सम्बन्ध ब की है।"[58] हमें सावधानी पूर्वक विचार करना है कि कार्य किसे उत्पन्न करेगा। उदाहरण के लिए हम किसी कथन के अनुचित होने का प्रभाव तब तक नहीं समझ सकते जब तक इस पर विचार न करें कि इसका श्रोता पर क्या प्रभाव पड़ेगा। इस बात का महत्व समझने के लिए कि कार्य से किसका आरम्भ होगा हमें परिस्थिति से सम्बन्धित सभी तथ्यों पर ध्यान देना चाहिए जिससे कर्ता अन्य तथा अपने स्वरूप को भलीभांति जान लें। इसके लिए सामान्य विचार की क्रिया आवश्यक है। इतना सब स्पष्ट हो जाने पर नैतिक चिन्तन द्वारा उचित का बोध हो जाता है। प्रिचर्ड के अनुसार नैतिक चिन्तन का अर्थ है कार्य के औचित्य का अपरोक्ष

बोध जैसे गणित की स्वयं सिद्धियों का बोध। किन्तु यदि उचित का ज्ञान प्रज्ञा से होता है तो कुछ व्यक्तियों को इसका ज्ञान क्यों नहीं होता? प्रिचर्ड का उत्तर है कि सभी व्यक्तियों में प्रज्ञा का स्तर समान नहीं होता। किन्तु यदि किसी एक व्यक्ति में ही विभिन्न कार्यों में विरोध का अनुभव हो तो उसे कैसे समाप्त किया जा सकता है? प्रिचर्ड कहता है कि इस स्थिति में हमें यह नही देखना चाहिए कि परस्पर विरोधी कार्यों में किससे अधिक शुभ उत्पन्न होगा। औचित्य या नैतिक बाध्यता की मात्राओं में अन्तर होता है। अतः हमें यह देखना चाहिए कि किस कार्य में नैतिक बाध्यता अधिक है।[59] प्रिचर्ड के एक अन्य मत से तर्क की सभी संभावनायें समाप्त हो जाती हैं। वह मानता है कि नैतिक बाध्यता कार्य में न होकर कर्त्ता में होती हैं। कारण यह है कि जब हम कार्य करने का निर्णय करते है तो कार्य अभी हुआ नही है, उसमे बाध्यता हो नहीं सकती। अतः बाध्यता कर्त्ता में ही होती है।

रॉस ने नैतिक दर्शन पर दो पुस्तकें लिखा हैं : ***द राइट ऐण्ड द गुड*** (1930) एवं ***फाउंडेशन्स आफ एथिक्स*** (1939)। इन पुस्तकों में रॉस ने 'उचित', 'कर्तव्य', 'शुभ' आदि नैतिक शब्दों पर विचार किया है। उन्होंने मूल कर्त्तव्यों एवं स्वतः शुभ वस्तुओं पर भी अपना सिद्धान्त दिया है। किन्तु प्रज्ञावाद का पूर्ण समर्थन करते हुए रॉस ने नैतिक युक्तियों के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ा है।

रॉस भी 'उचित', 'कर्तव्य' एवं 'शुभ' को अपरिभाषेय मानते हैं। उसका मत है कि मूर ने जिस आधार पर 'शुभ' को अपरिभाषेय माना है उसी आधार पर 'उचित' भी अपरिभाषेय है।[60] वास्तव में 'उचित' एवं शुभ दोनों सरल, निर्प्राकृतिक गुण है। उसका मत है कि 'उचित' का नैतिक अर्थ में प्रयोग मानवीय कर्मों के सन्दर्भ में ही होता है। अन्य सन्दर्भों में इस शब्द का प्रयोग नैतिक अर्थ में नही होता। उदाहरण के लिए जब किसी तर्क को उचित या अनुचित कहा जाता है तो इसका नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं होता। रॉस के अनुसार उचित का अर्थ है व्यक्ति की विशेष परिस्थिति के अनुसार उसके कर्म की उपयुक्तता।[61] उचित विशिष्ट एवं अपरिभाषेय उपयुक्तता है जिसे "नैतिक उपयुक्तता" कहा जा सकता है। इस परिस्थिति

के दो पक्ष है : वस्तुनिष्ट एवं आत्म निष्ठ। वस्तुनिष्ठ पक्ष के अन्तर्गत् परिस्थिति में निहित वस्तुओं एवं व्यक्तियों से सम्बन्धित नैतिक रूप से प्रासंगिक तथ्य एवं आत्मनिष्ठ पक्ष का अर्थ है व्यक्तियों एवं वस्तुओं से सम्बन्धित कर्ता के विचार। दोनों पक्षों पर विचार करने के पश्चात् ही उचित का स्पष्ट बोध होता है। रॉस उचित एवं शुभ को आश्रित गुण मानता है। वह निर्धारक एवं आश्रित या परिणामी गुणों में अन्तर करता है। उदाहरण के लिए वचन पालन का प्राकृतिक गुण हैं, और इस पर आश्रित है वचन पालन का उचित होना। यदि क वचन पालन है तो क उचित है। किन्तु इन दोनों में सम्बन्ध क्या है? वह भी मूर के समान मानता है कि प्राकृतिक गुण एवं नैतिक गुण में कारणात्मक या तार्किक सम्वन्ध नहीं हैं। हम प्रज्ञा से ही इसका ज्ञान प्राप्त कर सकते है। यही कारण है कि रॉस के सिद्धान्त में नैतिक युक्ति की संभावना नही रह जाती। मूर ने प्रज्ञावाद को मानते हुए भी समतुल्यता के नियमों के आधार पर नैतिक तर्क देने का प्रयास किया था, किन्तु प्रिचर्ड एवं रॉस इस प्रकार का कोई प्रयास नही करते। रॉस ने न तो नैतिक उपयुक्तता का स्वरूप स्पष्ट कियाहै, न यह बताने का प्रयास किया है कि किसी स्थिति में कोई कर्म क्यों उपयुक्त है। 'उचित' के साथ रॉस ने 'शुभ' पर भी विचार किया है। उसके अनुसार दोनों मौलिक प्रत्यय हैं एवं एक का रुपान्तरण दूसरे में नहीं हो सकता। फिर भी शुभ उचित से भिन्न है। हम 'शुभ' के स्थान पर 'उचित' का अथवा 'उचित' के स्थान पर 'शुभ' का प्रयोग नहीं कर सकते। हम कह सकते हैं 'वह एक अच्छा व्यक्ति है' किन्तु यह नहीं कहा जाता कि 'वह उचित व्यक्ति है।' इसी प्रकार हम कहते हैं 'उसका चरित्र अच्छा है' न कि 'उसका चरित्र उचित है'। दूसरा कारण यह है कि कर्म का शुभ या अच्छा होना कर्ता के हेतु पर निर्भर है। यदि हेतु शुभ है तो कर्म शुभ है। किन्तु कार्य का उचित होना हेतु पर निर्भर नहीं है। उचित होना उपयुक्तता है अथवा कर्तव्य सम्बन्धी नियम पर निर्भर है। इसीलिए रॉस मानता है कि यह संभव है कि कोई कर्म उचित हो किन्तु शुभ न हो अथवा शुभ हो किन्तु उचित न हो। उदाहरण के लिए यदि कोई शिक्षक ज्ञान

वृद्धि के लिए अधिकतर समय अनुसन्धान में देता है तथा शैक्षणिक कार्य की उपेक्षा करता है तो उसका कार्य शुभ है किन्तु उचित नहीं। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति भिखारी से छुटकारा पाने के लिए कुछ पैसे देता है तो उसका कार्य उचित है किन्तु शुभ या अच्छा नहीं।

अन्त में रॉस उचित एवं कर्तव्य में घनिष्ठ सम्बन्ध बताते हुए कुछ कर्तव्यों को प्रथम दृष्ट्या कर्तव्य बताता है। यहाँ वह पूर्णता का दावा नहीं करता। ये कर्तव्य हैं : (1) हमारे कुछ कर्तव्य भूतकाल में किए गए हमारे कार्यों से उत्पन्न होते हैं, जैसे वचन का पालन करना, असत्य कथन न करना तथा दूसरों को पहुँचाई गई क्षति की पूर्ति करना। (2) कुछ कर्तव्य भूतकाल में हमारे लिए किए गए दूसरों के कार्यों से उत्पन्न होते हैं, जैसे दूसरे द्वारा की गई सहायता के लिए कृतज्ञता का अनुभव करना। (3) कुछ कर्तव्यों का सम्बन्ध सुख एवं उसके समान वितरण से है। (4) कुछ कर्तव्यों का सम्बन्ध इस तथ्य से है कि समाज में अन्य प्राणी रहते हैं जिनकी स्थिति में हमें सुधार करना चाहिए। (5) कुछ कर्तव्यों का सम्बन्ध ज्ञान एवं सद्‌गुण की दृष्टि से स्वयं अपना सुधार करने से है। (6) कुछ कर्तव्यों का सम्बन्ध दूसरों को हानि न पहुँचाने से है।[62]

यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि यदि एक ही समय किसी व्यक्ति के समक्ष दो प्रथम दृष्ट्या कर्तव्य उपस्थित होते हैं और उनमें केवल एक का ही पालन किया जा सकता है तो वह व्यक्ति किसका चुनाव करे? इस स्थिति में नैतिक तर्क की संभावना हो सकती है। कुछ दार्शनिकों का विचार है कि यदि एक ही साथ दो कर्तव्य उपस्थित हों और उनमें एक का पालन ही संभव हो तो निर्णय इस आधार पर हो सकता है कि दोनों में किससे अधिक अच्छे परिणाम की संभावना है। किन्तु रॉस इसे स्वीकार नहीं करता। परिणाम किसी स्थिति में उचित, कर्तव्य या नैतिक बाध्यता का निर्धारक नहीं हो सकता। रॉस के अनुसार अधिक से अधिक शुभ की उत्पत्ति करना हमारा कर्तव्य हो सकता है, किन्तु अधिक से अधिक शुभ से कर्तव्य का औचित्य सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार दूसरों का सुख एवं सुख का न्यायपूर्ण वितरण हमारा कर्तव्य है, किन्तु इससे कर्तव्य का निर्धारण नहीं होता। उचित के सम्बन्ध में अन्य प्रकार के

तर्क संभव हैं, किन्तु प्रज्ञावाद का समर्थक होने के कारण रॉस किसी भी नैतिक तर्क को स्वीकार नहीं कर सकता।

संक्षेप में दो ऐसी स्थितियाँ आती है जिनमें नैतिक तर्क की प्रासंगिकता हो सकती है : प्रथम नैतिक संप्रत्ययों के प्राकृतिक गुणों एवं परिणामी गुणों के सम्बन्ध के सन्दर्भ में, द्वितीय कर्तव्यों में परस्पर विरोध के सन्दर्भ में। किन्तु रॉस दोनों ही सन्दर्भों में प्रज्ञा के आधार पर समाधान का समर्थन करता है। अतः नैतिक युक्तियाँ पूर्णतः अप्रासंगिक हो जाती हैं।

सन्दर्भ

1 कर्नर जी.सी., 'द रेवोलूशन इन एथिकल थ्योरी' आक्सफोर्ड, 1966 पृ० 5

2. मूर, जी. ई., 'प्रिंसिपिया एथिका' पृ० 142-43

3. वही, पृ० 146

4 वही, पृ० 147

5. वही, पृ० x

6. वही

7. वही, पृ० X

8. वही, पृ० 188-89

9. वही, पृ० 10

10.वही, पृ० 6

11 वही, पृ० 8-11

12. वही, पृ० 8

13 वही, पृ० 8

14 वही, पृ० 9

15. वही, पृ० 6

16. वही, पृ० 7

17. वही, पृ० 15

18. वही, पृ० 16

19 वही, पृ० 16-17

20. वही, पृ० 13

21. वही, पृ० 10

22 वही, पृ० 10

23. वही, पृ० 42

24 वही, पृ० 43

24. वही, पृ० 47-49

25 वही, पृ० 59

26. वही, पृ० 60

27. मूर द्वारा उद्धृत प्रिंसिपिया एथिका, पृ 64

28. वही, पृ० 68

29. वही, पृ० 71

30. वही, पृ० 87

31. वही, पृ० 92

32 वही, पृ० 91

33. प्राइस, रिचर्ड, 'ए रिव्यु आव द प्रिंसिपल क्वेश्चन्स इन मारल्स' पृ० 16-17

34. प्रिंसिपिया एथिका, पृ. 41

35. शिल्प, पी.ए., संपादिक पुस्तक 'फिलासफी आव जी. ई. मूर' में संकलित,1942

36. मूर, जी. ई., 'ए रेप्लाई टु माई क्रिटिक्स' शिल्प की पुस्तक में संकलित, पृ० 581.

37. मूर, जी. इ., फिलासफिकल स्टडीज 1922

38. वही, पृ० 260

39. मूर. जी. ई., 'ए रेप्लाई टु माई क्रिटिक्स' शिल्प सं. पुस्तक।

40. आक्सफोर्ड, 1966

41. वही, पृ० 7-8--21

42. मूर, जी. ई., प्रिंसिपिया एथिका, पृ. 143

43. मूर, जी. ई., फिलासफिकल स्टडीज, पृ. 271

44 वही, पृ. 272

45. कर्नर जी. सी., 'द रेवोलूशन इन एथिकल थ्योरी', पृ. 14

46. मूर. जी. ई., प्रिंसिपिया एथिका, पृ० 146

47. वही, पृ० 147

48. वही, पृ० 150

49. वही, पृ० 152

50. वही, पृ० 154

51. वही, पृ० 155

52. वही, पृ० 158

53. वही, पृ० 159

54. वही, पृ० 162

55. कर्नर, जी. सी., 'द रेवोलूशन इन एथिकल थ्योरी, पृ. 35

56. मूर. जी. ई., एथिक्स, लंदन, 1912, पृ० 39

57. शिल्प, पी.ए. सं. 'द फिलासफी आफ जी.ई. मूर' पृ. 608-9

58. प्रिचर्ड, एच. ए., 'मॉरल ओब्लीगेशन

59. वही, पृ० 9

60. रॉस, डब्लू. डी., 'द राइट ऐण्ड द गुड' पृ० 3

61. रॉस, डब्लू., डी. 'द फाउंडेशंस एथिक्स' पृ. 146

62. रॉस डब्लू. डी. 'द राइट ऐण्ड द गुड' पृ. 20-21

अध्याय–3

संवेगवाद

प्रज्ञावादियों ने प्रकृतिवाद का खण्डन किया, किन्तु उनका सिद्धान्त भी प्रकृतिवादियों के समान संज्ञानात्मक एवं वर्णनात्मक है। उनके अनुसार भी नैतिक भाषा तथ्यात्मक है यद्यपि नैतिक तथ्य निर्प्राकृतिक तथ्य हैं। प्रकृतिवादियों के अनुसार नैतिक विवादों का समाधान युक्तियों से हो सकता है जबकि निर्प्राकृतिक सिद्धान्त में युक्तियों की संभावना नहीं रह जाती। दूसरी तरफ प्रकृतिवाद में युक्तियाँ संभव हैं किन्तु ये युक्तियाँ सामान्य प्रकार की युक्तियाँ हैं। इनमें नैतिक युक्तियों की विशिष्टता नही है। समकालीन नैतिक दार्शनिकों ने नैतिक भाषा एवं नैतिक युक्तियों के विशिष्ट स्वरूप पर ध्यान दिया है। उनका मत है कि यदि नैतिक भाषा केवल प्राकृतिक या निर्प्राकृतिक गुणों अथवा तथ्यों का वर्णन मात्र करती है तो उसका मानव कार्यों एवं आचरण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता, न इसका प्रयोग इनका मूल्यांकन करने के लिए हो सकता है। किन्तु नैतिक भाषा का कार्य मानव आचरण का मूल्यांकन करना। उसे प्रभावित करना आदि होता है। स्टीवेंसन के अनुसार नैतिक भाषा में गत्यात्मकता होती है। हेअर का मत है कि नैतिक भाषा परामर्शात्मक है। इसी के अनुसार इन दार्शनिकों ने नैतिक युक्तियों का भी विवेचन किया है। इस क्रम में हम पहले संवेगवाद पर विचार करेंगे।

संवेगवाद तार्किक भाववादी दार्शर्निकों का सिद्धान्त है जिसका आरम्भ मॉरित्श श्लिक एवं उसके द्वारा स्थापित 'वियना सर्किल' से होता है। इंग्लैण्ड में ए० जे० एअर एवं अमरीका में सी० एल० स्टीवेंसन में संवेगवाद का सैद्धान्तिक पक्ष अपनी रचनाओं से प्रस्तुत किया है। किन्तु संवेगवाद का पूर्वाभास अनेक अन्य विचारकों में पहले से ही मिलता है। ह्यूम के अनुसार हमारे नैतिक निर्णय भावनाओं पर आधारित हैं एवं भावनाओं को ही व्यक्त करते है। वास्तव में ह्यूम में दो प्रकार के विचार मिलते हैं। कहीं-कहीं उसके विवेचन से प्रतीत होता है कि वह सामाजिक अनुमोदन के रूप में नैतिक निर्णयों की व्याख्या करता है, किन्तु उसने इन निर्णयों को भावों की अभिव्यक्ति भी माना है। इतना तो स्पष्ट है कि वह बुद्धिवाद, वस्तुनिष्ठता तथा निरपेक्षता का विरोध करता है, किन्तु उसका संवेगवादी सिद्धान्त बहुत स्पष्ट नहीं है। 1923 में प्रकाशित पुस्तक ***द मीनिंग ऑफ मीनिंग*** में सी० के० आग्डेन एवं आई० ए० रिचर्ड्स ने स्पष्ट रूप से

संवेगवाद का प्रतिपादन किया है। 'शुभ' का अर्थ बताते हुए उनका कहना है कि यह शब्द किसी वस्तु के प्राकृतिक या निर्प्राकृतिक गुण का निर्देश न करके उसके सम्बन्ध में हमारी अनुमोदन की भावना को व्यक्त करता है तथा दूसरों में इसी भावना को उत्पन्न करता है। उन्होंने इस बिन्दु को स्पष्ट करने के लिए 'शुभ' की तुलना 'लाल' से किया है। जब किसी वस्तु को लाल कहा जाता है तो उस वस्तु का वर्णन किया जाता है, किन्तु जब उसी वस्तु को शुभ या अच्छा कहा जाता है तो उसका वर्णन न करके उसके प्रति अपनी भावना को व्यक्त किया जाता है। इसी आधार पर उन्होंने मूर का खण्डन किया है। 'शुभ' किसी सरल, निर्प्राकृतिक गुण का बोध नहीं कराता, केवल संवेगों को व्यक्त करता है।[1] इसी प्रकार 1934 में *एनालिसिस* में प्रकाशित एक लेख में डब्ल्यू० एच० एफ० बार्न्स ने यह मत व्यक्त किया है कि मूल्यात्मक निर्णय अपनी उत्पत्ति में निर्णय नहीं हैं। वे अनुमोदन व्यक्त करने वाले उद्‌गार है।[2] सी० डी० ब्राड ने *प्रोसीटिंग्स आफ अरिस्टोटेलियन सोसायटी* में 1934 के एक लेख में ए० एस० डंकनजोंस को संवेगवादी नीतिशास्त्र का समर्थक बताया है। डब्ल्यू० डी० हडसन [3] ने सूसन स्टेंविंग एवं कार्ल ब्रिटन को इसी मत में सम्मिलित किया है।[3]

वास्तव में संवेगवाद का निश्चित सैद्धान्तिक आधार विट्‌गेंस्टाइन के *ट्रैक्टेटस* में मिलता है जिसका तार्किक प्रत्यक्षवाद पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। विट्‌गेंस्टाइन ने स्पष्ट रूप से संवेगवाद का समर्थन नहीं किया है किन्तु उसका अर्थ सिद्धान्त नीतिशास्त्र के संज्ञानात्मक पक्ष का खण्डन अवश्य करता है। *ट्रैक्टेटस* में उसने चित्र सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इसके अनुसार केवल वही तथ्यात्मक प्रतिज्ञप्ति सार्थक है जो किसी प्राकृतिक तथ्य का चित्र है। तथ्य ही प्रतिज्ञप्ति का अर्थ है। अन्य शब्दों में जिस प्रतिज्ञप्ति के अनुसार कोई वास्तविक या संभावित तथ्य नहीं है वह निरर्थक है। तार्किक भाववादियों ने भी नैतिक कथनों को निरर्थक माना है। विट्‌गेंस्टाइन के अनुसार नैतिक कथनों का सम्बन्ध मूल्यों से है, तथ्यों से नहीं। इन कथनों का विषय है क्या होना चाहिए, न कि क्या है। जैसा विट्‌गेंस्टाइन कहता है :

"यदि कोई मूल्य है जो वास्तव में मूल्य है तो यह जो है एवं जो घटित होता है उससे परे है।"[4]

"नीतिशास्त्र अतीन्द्रिय है।"[5]

इन कथनों से यह स्पष्ट नहीं है कि विट्गेंस्टाइन इन्हें किस रूप में समझता है। इतना अवश्य है कि ये कथन चित्र सिद्धान्त की दृष्टि से निरर्थक हैं। पर जैसा रस रीज[6] ने बताया है विट्गेंग्टाइन नैतिक भाषा एवं वैज्ञानिक भाषा का अन्तर करने के लिए ही नैतिक कथनों को अतीन्द्रिय मानता है। जो भी हो तार्किक भाववादियों ने नैतिक कथनों को शाब्दिक रूप में निरर्थक माना है।

ए० जे० एअर

तार्किक भाववादी दार्शनिकों में एअर का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने 1936 में प्रकाशित पुस्तक *'लैंग्वेज, ट्रुथ ऐण्ड लॉजिक'* के छठवें अध्याय में नैतिक कथनों एवं नैतिक युक्तियों के स्वरूप पर विस्तार से विचार किया है। उसके अनुसार वही कथन संज्ञानात्मक रूप से सार्थक हैं जो या तो विश्लेषणात्मक कथन है या जिसका इन्द्रिय अनुभव से सत्यापन संभव है। विश्लेषणात्मक कथन की वैधता उसमें प्रयुक्त शब्दों की परिभाषा या अर्थ से ही सिद्ध हो जाती है। संश्लेषणात्मक कथन तभी सार्थक हैं जब व्यवहार या सिद्धान्त में, सबल या निर्बल रूप में तथा प्रत्यक्ष या परोक्ष में सत्यापनीय है। नैतिक निर्णय न तो विश्लेपणात्मक है न सत्यापनीय। अतः नैतिक निर्णय संज्ञानात्मक रूप में निरर्थक है। किन्तु नैतिक निर्णय तत्त्वमीमांसीय कथनों के समान निराकरणीय नहीं हैं। तब उनकी व्याख्या किस प्रकार संभव है?

उपरोक्त प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व एअर प्रकृतिवादी एवं प्रज्ञावादी सिद्धान्तों का खण्डन करता है क्योंकि इन सिद्धान्तों के अनुसार नैतिक कथन संज्ञानात्मक अथवा सत्य या असत्य होते हैं जो तार्किक भाववादियों को मान्य नही है। एअर के अनुसार व्यक्तिनिष्ठ सिद्धान्त एवं सुखवाद के समर्थक नैतिक संप्रत्ययों का रूपान्तरण प्राकृतिक पदों में करते हैं। उपयोगितावादियों के अनुसार कार्यों के औचित्य एवं साध्य के शुभत्व का अर्थ सुख, प्रसन्नता या संतोष है।

व्यक्तिनिष्ठवाद के अनुसार इनका अर्थ किसी व्यक्ति विशेष या समुदाय का अनुमोदन है। इनके अनुसार नैतिक निर्णय मनोवैज्ञानिक या समाज वैज्ञानिक निर्णयों के अन्तर्गत् हैं।[7] एअर का विचार है कि व्यक्तिनिष्ठ सिद्धान्त गलत है क्योंकि यह कथन आत्म व्याघाती नहीं है कि कुछ कार्य जिनका सामान्यतः अनुमोदन किया जाता है उचित नहीं हैं, या कुछ वस्तुयें जिनका अनुमोदन किया जाता है शुभ नहीं हैं। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति कहता है कि उसने कुछ ऐसे कार्यों का अनुमोदन किया था जो उचित नहीं थे या ऐसी वस्तुओं का अनुमोदन किया था जो शुभ नही है तो वह अपना विरोध नही करता। इसी प्रकार यह नही माना जा सकता कि किसी कार्य के उचित होने का अर्थ है कि उस कार्य से अधिक से अधिक सुख उत्पन्न होगा, अथवा किसी वस्तु के शुभ होने का अर्थ है कि वह सुखद या उपयोगी है। यह कथन आत्मव्याघाती नहीं है कि कभी-कभी जो कार्य अधिकतम सुख देता है वह उचित नहीं है, या जो वस्तु सुखद है वह शुभ नही है। यह कथन भी आत्मव्याघाती नही है कि कुछ सुखद वस्तुयें शुभ नहीं है या कुछ अशुभ वस्तुओं की इच्छा की जाती है। अतः यह नही कहा जा सकता कि "क शुभ है" समतुल्य है "क सुखद है" या "क की इच्छा की जाती है"[8] एअर यह भी स्पष्ट करता है कि केवल नियामक नैतिक पद ही अपरिभाषेय हैं वर्णनात्मक नैतिक पद नहीं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि नैतिक मूल्य किसी निरपेक्ष अर्थ में अविश्लेष्य हैं। वास्तव में प्रज्ञावाद भी संतोषजनक नहीं है। जब दो व्यक्तियों के प्रज्ञात्मक बोध में अन्तर होता है तो इस मतभेद का समाधान असंभव हो जाता है। प्रज्ञावादी नैतिक निर्णयो को संश्लेषात्मक मानते हैं, किन्तु संश्लेषणात्मक निर्णय तभी सार्थक हैं जब इन्द्रिय अनुभव से उनका सत्यापन किया जा सके। नैतिक निर्णयों का सत्यापन नहीं हो सकता।

एअर मानता है कि मूल्यात्मक नैतिक शब्द अपरिभाषेय हैं। इस सम्बन्ध में उसका विचार मूर के समान है। किन्तु एअर के अनुसार नैतिक शब्द इसलिए अपरिभाषेय हैं कि नैतिक संप्रत्यय छद्म संप्रत्यय हैं। "प्रतिज्ञप्ति में नैतिक प्रतीक का प्रयोग इसके तथ्यात्मक विषय में कुछ योग नहीं करता। इस प्रकार यदि कोई व्यक्ति कहता है : 'तुमने उस धन का चोरी

करके अनुचित किया है' तो वह इस कथन 'तुमने वह धन चुराया' के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहता। मैं केवल इसके प्रति अपना नैतिक अननुमोदन व्यक्त करता हूँ। यह वैसे ही है जैसे में विशेष स्वर में कहूँ 'तुमने वह धन चुराया', या इस वाक्य को विश्मयवोधक चिन्ह के साथ लिखूँ।"[9] यदि मैं कहता हूँ "धन की चोरी करना अनुचित है" तो तथ्यात्मक रूप से कुछ न कह कर मैं केवल चोरी के सम्बन्ध में अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करता हूँ। मैं ऐसा कुछ भी नहीं कहता जो सत्य या असत्य हो। किसी अन्य व्यक्ति का मत इससे भिन्न हो सकता है, पर यहाँ कोई विरोध नहीं है। मै अपनी अनुभूति व्यक्त करता हूँ, वह अपनी। यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि मै अपने भावों को केवल व्यक्त करता हूँ, उनका वर्णन नही करता। वर्णन सत्य या असत्य हो सकता है। इस प्रकार नैतिक शब्दों एवं निर्णयों का केवल संवेगात्मक अर्थ होता है।[10]

"इसका उल्लेख करना आवश्यक है कि नैतिक शब्द केवल अनुभूतियों को व्यक्त करने का कार्य नही करते। उनका उपयोग अनुभूतियों को जाग्रत करने और इस प्रकार कार्य प्रेरित करने के लिए भी किया जाता है।"[11]

वास्तव में इनमें से कुछ का प्रयोग वाक्यों को आदेश का रूप दे देता है। "इस प्रकार 'सत्य बोलना तुम्हारा कर्त्तव्य है' वाक्य को सत्य के विषय में नैतिक अनुभूतियों को व्यक्त करने वाला एवं 'सत्य वोलो' आदेश के रूप में लिया जा सकता है। 'तुम्हें सत्य वोलना चाहिए' वाक्य में भी आदेश निहित है, किन्तु इसमें आदेश का स्वर उतना सबल नहीं है। 'सत्य बोलना अच्छा है' वाक्य में आदेश सुझाव से थोड़ा ही ज्यादा है।"[12] अब यह स्पष्ट है कि नैतिक निर्णयों में वैधता क्यों नहीं होती। यदि कोई वाक्य कथन नहीं है तो वह सत्य या असत्य नहीं है, और यदि वह सत्य या असत्य नहीं है तो वैधता का प्रश्न ही नहीं है।[13] एअर के अनुसार संवेगवाद व्यक्तिनिष्ठतावाद से भिन्न है। व्यक्तिनिष्ठतावाद केवल मूल्यात्मक कथनों की विशिष्टता का निषेध करता है। पर वह मानता है कि जब कोई व्यक्ति कहता है "क शुभ है" तो वह अपने अनुमोदन का वर्णन करता है। उसका वर्णन सत्य या असत्य हो सकता

है। यदि वह अपने अनुमोदन का सत्य अनुमोदन कर रहा है तो उसका निर्णय सत्य है, अन्यथा असत्य। किन्तु एअर के अनुसार नैतिक निर्णय अनुभूतियों के वर्णन नहीं हैं; केवल अनुभूतियों की अभिव्यक्तियॉं है। अतः ये निर्णय प्रतिज्ञप्ति नहीं है। सामान्य व्यक्तिनिष्ठ सिद्धान्त के विरुद्ध यह आक्षेप किया जाता है कि नैतिक निर्णय की वैधता वक्ता की अनुभूतियों पर निर्भर नहीं है। यह आक्षेप, एअर के अनुसार, उसके सिद्धान्त पर नहीं लगता क्योंकि नैतिक निर्णय निर्णय नहीं हैं। उनकी वैधता का प्रश्न ही नहीं उठता।[14]

जहाँ तक परम्परागत नीतिशास्त्र का प्रश्न है उसमें अनेकों प्रकार के कथन समाहित है। नीतिशास्त्र की इन पुस्तकों में तत्त्वमीमांसा के सिद्धान्त एवं निर्नैतिक प्रत्ययों का भी विवेचन है। नैतिकता से सम्बन्धित कथन भी कई प्रकार के हैं। एअर[15] ने इनका वर्गीकरण चार प्रकारों में किया है। प्रथम ऐसी प्रतिज्ञप्तियॉं है जो नैतिक शब्दों की परिभाषायें हैं या परिभाषाओं की संभावना अथवा औचित्य से सम्बन्धित परिभाषायें हैं। दूसरे प्रकार के कथन नैतिक अनुभवों एवं उनके कारणों का वर्णन हैं। तीसरे प्रकार के कथन नैतिक सद्गुणों का पालन करने के आदेश हैं। चौथे प्रकार के कथन वास्तविक नैतिक निर्णय हैं। एअर मानता है कि केवल प्रथम प्रकार के कथन ही नैतिक दर्शन के विषय है। तात्पर्य यह है कि नैतिक दर्शन वास्तव में अधिनीतिशास्त्र है। इसका सम्बन्ध नियमक नैतिक विचारों से नहीं है। दूसरे प्रकार के कथन मनोविज्ञान एवं समाज विज्ञान के विषय है। तीसरे प्रकार के वाक्य प्रतिज्ञप्तियाँ नहीं हैं। वे केवल आचरण को प्रोत्साहित करने वाले उपदेश या आदेश हैं। चौथे प्रकार के वाक्य केवल संवेगात्मक हैं। इनका विवेचन ऊपर किया गया है।

स्पष्ट है कि 1946 अर्थात् *'लैंग्वेज ट्रुथ ऐण्ड लॉजिक'* के द्वितीय संस्करण तक एअर संवेगवाद का पूर्ण समर्थन करता है। किन्तु उसके संवेदवाद की तीव्र आलोचना की गई। एअर के अनुसार नैतिक निर्णयों में केवल संवेगात्मक अर्थ होता है। नैतिक निर्णयों का कार्य है संवेगों को व्यक्त एवं जाग्रत करना एवं संवेगों को जाग्रत करके कुछ करने या न करने के लिए परोक्ष रूप से प्रोत्साहित करना। इसी रूप में इन्हें आदेशात्मक भी कहा जा सकता है। इसके

विरोध में एक आलोचना यह भी की जाती है कि यदि संवेगवाद सत्य है तो कुछ भी शुभ या अशुभ, उचित या अनुचित नही है। इस आक्षेप का एअर ने खण्डन किया है। उसके अनुसार ऐसा कहना भी मूल्यात्मक निर्णय है और उसने यह निर्णय नहीं दिया है। वह कहता है : "जब मैं कहता हूँ कि नैतिक निर्णय वर्णनात्मक न होकर संवेगात्मक हैं, तथ्यात्मक न होकर अभिवृत्तियों को व्यक्त करने वाली अभिव्यक्तियाँ हैं अतः वे सत्य या असत्य नहीं हो सकती.....तो मेरे कथन का अर्थ यह नहीं है कि कुछ भी शुभ या अशुभ, उचित या अनुचित नही है......नैतिक निर्णयों का विश्लेषण करना स्वयं नैतिक निर्णय देना नहीं है।"[16]

संवेगवाद से, एअर के अनुसार यह नहीं सिद्ध होता कि नैतिक निर्णय या नैतिक नियम तुच्छ हैं। ऐसा कहना भी वास्तव में नैतिक निर्णय देना है। एअर ने *लैंग्वेज, ट्रुथ ऐण्ड लॉजिक* के द्वितीय संस्करण की भूमिका में लिखा है कि संवेगवाद की आलोचनायें मूलतः सत्यापन तथा अन्य तार्किक भाववादी सिद्धान्तों के आधार पर की जाती हैं, किन्तु संवेगवादी सिद्धान्त सत्यापन तथा अन्य सिद्धान्तों से स्वतंत्र है और अपने आप में सही एवं तर्कसंगत है।[17] किन्तु कुछ आलोचनाओं ने एअर को अवश्य ही प्रभावित किया है। यदि नैतिक शब्द केवल संवेगात्मक हैं तो उनके विश्लेषण की संभावना ही नहीं रह जाती। स्पष्ट है कि संवेगात्मक शब्द भी भाषाई नियमों से निर्धारित होते हैं। और क्या यह संभव है कि शब्द केवल संवेगात्मक हो? स्टीवेंसन ने माना है कि नैतिक शव्दों में संवेगात्मक एवं वर्णनात्मक दोनों प्रकार के अर्थ होते हैं। हेअर ने भी मूल्यात्मक के साथ वर्णनात्मक अर्थ स्वीकार किया है। संभवतः इन्हीं कारणों से एअर ने अपने लेख *'आन द एनालिसिस आफ मॉरल जज्मेंट्स'* में अपने विचारों से कुछ परिवर्तन किया है जिसके कारण नैतिक तर्कों के स्वरूप में भी परिवर्तन का संकेत मिलता है। इस लेख में एअर ने अपने पूर्ववर्ती मत में संशय व्यक्त किया है। वह लिखता है :

"धर्मशास्त्रीय एवं नैतिक कथनों को अब असत्य या निरर्थक नहीं माना जा सकता। उन्हें वैज्ञानिक कथनों से केवल भिन्न कहा जा सकता है।.....जहाँ तक नैतिक दर्शन का प्रश्न है इसका अर्थ है कि नैतिक कथन विशिष्ट हैं, और यह पर्याप्त सीमा तक सत्य हो सकता है।

यह विचार कि जिन्हें नैतिक कथन कहा जाता है वे वास्तव में कथन नहीं है, वे किसी वस्तु का वर्णन नहीं करते, वे सत्य या असत्य नहीं हो सकते एक, जो मे निश्चित रूप से अनुचित है, यद्यपि मै अब भी इसे स्वीकार करना चाहता हूँ।''[18] इसी लेख मे वह मानता है कि हम नैतिक तथ्यों का भी प्रयोग कर सकते है। पर उसने पहले मत के प्रति अब भी आग्रह व्यक्त किया है तथा नैतिक तथ्यों का स्वरूप स्पष्ट नहीं किया है।

नैतिक युक्ति

नैतिक निर्णयों के अर्थ से स्पष्ट है कि एअर के अनुसार नैतिक निर्णयों के विषय में न वास्तविक असहमति हो सकती है न इसकी प्रामाणिकता के पक्ष या विपक्ष में वस्तुनिष्ठ तर्क दिये जा सकते हैं। जो स्थिति प्रज्ञावाद की है वही स्थिति एअर के संवेगवाद की भी है। एअर मानता है कि जब दो व्यक्ति परस्पर विरोधी निर्णय देते है तो वे एक दूसरे का खण्डन नहीं करते। वे अपने निर्णयों द्वारा वस्तु के विषय में कुछ नहीं कहते, केवल वस्तु के विषय में अपनी भावनायें व्यक्त करते हैं। अर्थात् नैतिक निर्णयों के विषय में वास्तविक असहमति नहीं हो सकती। जब कोई कहता है ''मितव्ययता सद्‌गुण है'' और दूसरा कहता है ''मितव्ययता दुर्गुण है'' तो हम नहीं कह सकते कि इन वाक्यों से कोई प्रतिज्ञप्ति व्यक्त की जाती है। ये व्यक्ति एक दूसरे का विरोध नही करते। एक कहता है कि वह मितव्ययता का अनुमोदन करता है, दूसरा कहता है कि वह मितव्ययता का अननुमोदन नहीं करता है, और दोनों सही हो सकते हैं।[19]

एअर कहता है कि सामान्यतः यही माना जाता है कि नैतिक विवाद होते हैं एवं उनके समाधान के लिए नैतिक तर्क भी दिये जाते हैं। पर एअर के अनुसार यदि इन विवादों पर ध्यान दिया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि विवाद मूल्यों के सम्बन्ध में नहीं है, केवल तथ्यों के सम्बन्ध में ही विवाद है।[20] यदि कोई व्यक्ति हमसे असहमत है तो हम उसे अपने पक्ष में करने के लिए तर्क देते हैं। किन्तु हम यह प्रयास नहीं करते कि जिस स्थिति को उसने ठीक से समझ लिया है उसके प्रति उसके मन में गलत भावनायें हैं। हम यह सिद्ध करना

चाहते हैं कि वह इस स्थिति से सम्बन्धित तथ्यों से पूरी तरह अवगत नहीं हैं। हम यह तर्क देते हैं कि उसने कर्त्ता के प्रयोजन को ठीक से नहीं समझा है या उसने कार्य के परिणाम के सम्बन्ध में सही निर्णय नही लिया है, या कर्त्ता के ज्ञान के सन्दर्भ में प्रसंभाव्य परिणाम पर ध्यान नही दिया, या उसने कर्त्ता की विशिष्ट परिस्थिति पर ध्यान नहीं दिया, या विशेष प्रकार के कार्य के सम्बन्ध में सामान्य तर्क दे सकते हैं, या कार्य के सम्पादन के गुणों के विषय में तर्क दे सकते हैं। हम ऐसा इस प्रत्याशा में करते है कि विरोधी व्यक्ति को अनुभवात्मक तथ्यों के सम्बन्ध में हम अपने अनुरूप कर सकें जिससे उसकी भी वही नैतिक अभिवृत्ति हो जाय जो हमारी है। जिन व्यक्तियों से हम विवाद एवं तर्क करते हैं उन्हें भी वही नैतिक शिक्षा मिली है जो हमारी है, और हम दोनों एक ही सामाजिक व्यवस्था में रहते है। अतः हमारी प्रत्याशा प्रायः उचित होती है।[21] "किन्तु यदि हमारे विपक्षी को हमसे भिन्न नैतिक शिक्षा मिली है और वह भिन्न प्रकार से नैतिक अनुकूलन से प्रभावित है तो तथ्यों पर सहमति होते हुए भी उसके मूल्य भिन्न होने के कारण उसके मत में भिन्नता होगी। इस स्थिति में हम उससे तर्क का प्रयास समाप्त कर देते है।"[22] इस स्थिति में हम कहते हैं कि उससे तर्क करना असंभव है क्योंकि उसकी नैतिक संवेदना विकृत अथवा अविकसित है। इसका अर्थ है कि उसके नैतिक मूल्य हमारे मूल्यों से भिन्न हैं। हमें लगता है कि हमारे मूल्य श्रेष्ठ हैं। अतः हम दूसरों के मूल्यों के प्रति अपमानजनक शब्दों का प्रयोग करते है। किन्तु हम किसी तर्क के आधार पर अपने मूल्यों को श्रेष्ठ नही सिद्ध कर सकते, क्योंकि ऐसा मानना स्वयं मूल्यात्मक निर्णय है। "शुद्ध रूप से मूल्यों की बात करते समय हमारे पास तर्क नहीं रहते जबकि तथ्यों की स्थिति भिन्न है। इसीलिए हम अन्त में अशिष्ट भाषा का प्रयोग करने लगते हैं।"[23]

एअर मानता है कि नैतिक प्रश्नों पर तर्क केवल तभी संभव है जब मूल्यों की एक निश्चित व्यवस्था को पहले से ही मान लिया गया हो। यदि हमारा विरोधी एक विशेष प्रकार क के सभी कार्यों के प्रति अननुमोदन व्यक्त करने में हमसे सहमत है तो हम किसी निश्चित कार्य ख का अननुमोदन करने के लिए तर्क इस आधार पर दे सकते है कि कार्य ख क प्रकार का

कार्य है। ख क प्रकार का कार्य है या नही एक तथ्यात्मक प्रश्न है। यदि कोई व्यक्ति कुछ नैतिक नियमों को स्वीकार करता है तो सुसंगति के आधार पर तर्क दिया जा सकता है कि उसे किसी विशेष वस्तु के प्रति विशेष ढंग से व्यवहार करना चाहिए।" "किन्तु हम इन नैतिक नियमों की वैधता के विषय में न तर्क करते है न कर सकते हैं। हम केवल अपनी अनुभूतियों के आधार पर उनकी प्रशंसा या आलोचना करते हैं।"[24] एअर के अनुसार नैतिक युक्तियॉ केवल दो आधारो पर सभव हे : तथ्यो के आधार पर एव तार्किक सुसंगति के आधार पर। इन दोनों का सम्मिलित प्रयोग भी होता है। किन्तु केवल मूल्यों के सम्बन्ध में कोई भी युक्ति या तर्क संभव नही है। वह कहता है कि केवल मूल्यों को लेकर हम किसी तर्क की कल्पना भी नहीं कर सकते।[25] हम नैतिक संवेगों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण कर सकते है। उनका कारण या परिणाम बता सकते है, किन्तु यह कार्य मनोविज्ञान एवं समाज विज्ञान का है। इस प्रकार मूल्यों के विषय में नैतिक विज्ञान संभव नहीं है।

हम देखते हैं कि नैतिक व्यवहार का कारण अधिकतर स्थितियों में भय है चाहे चेतन रूप मे या अचेतन रूप में, चाहे ईश्वर का भय हो या समाज का। इसीलिए कुछ व्यक्तियों को नैतिक नियम निरपेक्ष आदेश के रूप में प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार किसी समाज के नैतिक नियमों का निर्धारण समाज की प्रसन्नता के सम्बन्ध में उसके विश्वास पर निर्भर होते हैं। इसी के लिए नैतिक अंकुशों की व्यवस्था की जाती है। इसीलिए स्वार्थ के स्थान पर परोपकार की अनुशंसा की जाती है। इन्हीं आधारों पर सुखवाद का सिद्धान्त माना जाता है जैसे भय के आधार पर नैतिक नियमों के आदेश के रूप में लिया जाता है। दोनों सिद्धान्त एकांगी हैं, किन्तु उनका वास्तविक दोष यह है कि उन्होंने नैतिक अनुभूतियों के कारणों को नैतिक शब्दों की परिभाषा मान लिया है जबकि नैतिक पद छद्‌म प्रत्ययों को ही व्यक्त करते है।[26] किन्तु *आन द एनालिसिस आफ मॉरल जज्मेंट्स* लेख में उसके विचारों में परिवर्तन हुआ है। संभवतः स्टीवेंसन के प्रभाव से यह परिवर्तन संभव हुआ। इस लेख में वह मानता है कि नैतिक निर्णयों के समर्थन में कुछ विशेष प्रकार के तर्क संभव हैं। नैतिक तर्कों का उद्देश्य किसी वस्तुस्थिति

का समर्थन नहीं है। इसीलिए ये तर्क निगमनात्मक या आगमनात्मक नही होते। नैतिक युक्तियों का उद्देश्य वक्ता या श्रोता की अभिवृत्तियों को प्रभावित या परिवर्तित करना है। वह लिखता है :

"जिस प्रकार हम सौन्दर्यात्मक निर्णयों के लिए तर्क देते है उसी प्रकार नैतिक निर्णयों के लिए भी तर्क देते है एवं दे सकते हैं।.....प्रश्न यह है कि ये तर्क नैतिक निर्णयों का समर्थन किस प्रकार करते है? तार्किक दृष्टि से यह सभव नही है। नैतिक तर्क निगमनात्मक नही। वैज्ञानिक दृष्टि से भी इन्हें तर्क़ नहीं माना जा सकता। हम कह सकते है कि हमारे पास नैतिक प्रमाण हैं। किन्तु प्रमाण तथा नैतिक निर्णयों में भेद नहीं किया जा सकता।........ मेरा उत्तर है कि जिन्हें नैतिक निर्णयों के लिएतर्क समझा जाता है वे इस अर्थ में तर्क है कि इनसे हमारी अभिवृत्तियों का निर्धारण होता है।"[27]

स्पष्ट है कि अब एअर नैतिक तर्कों का सम्बन्ध अभिवृत्तियों से मानता है। नैतिक तर्क हमारी अभिवृत्तियों को प्रभावित करते हैं। किन्तु यह कैसे संभव होता है, इसका विवेचन एअर ने नहीं किया है। इसके लिए हमें सी० एल० स्टीवेंसन के सिद्धान्तों का अध्ययन करना पड़ेगा।

सी० एल० स्टीवेंसन

संवेगवाद को सुव्यवस्थित स्वरूप अमरीकी दार्शनिक सी० एल० स्टीवेंसन ने दिया है। 1937–38 में ***माइंड*** पत्रिका में प्रकाशित उसके लेख ***द इमोटिव मीनिंग आफ एथिकल टर्म्स, पर्सुएसिव डेफीनीशंस*** एवं ***द नेचर आफ एथिकल डिसएग्रीमेंट*** से इस सिद्धान्त का स्वरूप अधिक स्पष्ट हुआ है। किन्तु इस सिद्धान्त का सर्वागीण स्वरूप 1944 में प्रकाशित उसकी पुस्तक ***एथिक्स ऐण्ड लैंग्वेज*** में मिलता है। इस पुस्तक के विषय में स्टीवेंसन ने लिखा है : "यह पुस्तक सम्पूर्ण नैतिक दर्शन का विवेचन न करके उसके एक विशेष सीमित भाग का अध्ययन करती है। इसका प्रथम उद्देश्य 'शुभ', 'उचित', 'न्यायपूर्ण', 'चाहिए' आदि नैतिक शब्दों का अर्थ स्पष्ट करना है। इसका दूसरा प्रयोजन इन सामान्य विधियों की व्याख्या करना है जिनके द्वारा नैतिक निर्णयों को प्रमाणित किया जा सकता है अथवा उनकी पुष्टि की जा सकती है।'[28]

उसके अनुसार नैतिक युक्तियों का स्वरूप समझने के लिए नैतिक शब्दों एवं नैतिक निर्णयों का स्वरूप समझना आवश्यक है। स्टीवेंसन भी कार्नप तथा एअर के समान मुख्य रूप से नैतिक शब्दों एवं नैतिक निर्णयों को संवेगात्मक मानता है, किन्तु एअर तथा कार्नप के सिद्धान्तों में उसने कुछ संशोधन भी किया है। मुख्य रूप से उसका मत दो बातों में भिन्न है :

1. स्टीवेंसन भी मानता है कि नैतिक शब्द एवं निर्णय मुख्य रूप से संवेगात्मक हैं, किन्तु वह कहता है कि नैतिक शब्दों एवं निर्णयों में वर्णनात्मक अर्थ भी होता है। एअर के अनुसार इनमें वर्णनात्मक अर्थ का पूर्ण निषेध होता है। उसके अनुसार नैतिक निर्णय वैसे ही हैं जैसे विस्मयबोधक शब्द या भावों को व्यक्त करने वाली शारीरिक क्रियायें। किन्तु स्टीवेंसन के अनुसार नैतिक शब्दों एवं निर्णयों दोनों में संवेगात्मक एवं वर्णनात्मक अर्थ होते हैं। यह बात उसके वर्णन के दो नमूनों या प्रारूपों से स्पष्ट हो जाती है। प्रथम प्रारूप के अनुसार 'क शुभ है' का अर्थ है 'मैं क का अनुमोदन करता हूँ, तुम भी ऐसा करो'। यहाँ 'मै क का अनुमोदन करता हूँ' वर्णनात्मक अर्थ है एवं 'तुम भी ऐसा करो' संवेगात्मक। विश्लेषण के दूसरे प्रारूप के अनुसार : 'क शुभ है' का अर्थ है 'क में अ ब स आदि गुण या सम्बन्ध हैं एवं शुभ का अनुमोदनात्मक भावात्मक अर्थ भी है। यहॉ अ, ब, स आदि से वर्णनात्मक अर्थ ज्ञात होता है। स्टीवेंसन का मत है कि वर्णनात्मक अर्थ के कारण नैतिक निर्णय शुद्ध संवेगात्मक शब्दों जैसे 'आह!', 'ओह' आदि से भिन्न है। यद्यपि वह मानता है कि संवेगात्मक अर्थ मुख्य तथा वर्णनात्मक अर्थ गौण होता है, पर वर्णनात्मक अर्थ के कारण उसका सिद्धान्त एअर से भिन्न हो जाता है।

2. एअर ने नैतिक तर्कों की संभावना का निषेध किया है, किन्तु स्टीवेंसन इन्हें संभव एवं आवश्यक मानता है। ये तर्क किस प्रकार के हैं, एवं इनका स्वरूप क्या है इसकी व्याख्या करना उसका मुख्य उद्देश्य है।

स्टीवेंसन ने नैतिक शब्दों एवं निर्णयों का अर्थ स्पष्ट करने के लिए मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का उपयोग किया है। इस सिद्धान्त का विवेचन विस्तार के साथ प्रथम अध्याय में किया जा

चुका है। यहाँ केवल संक्षेप में उसके महत्वपूर्ण पक्षों का पुनः उल्लेख किया जायेगा। शब्द या वाक्य समान परिस्थितियों में बार-बार प्रयोग करने से कुछ मानसिक स्थितियों को उत्पन्न करने की प्रवृत्ति प्राप्त कर लेते हैं। स्टीवेंसन के अनुसार शब्द की यही शक्ति या प्रवृत्ति उसका अर्थ है।[29] अर्थात् किसी शब्द को सुनने से मन में कुछ मानसिक प्रतिक्रियायें उत्पन्न होती हैं। इन प्रतिक्रियाओं को उत्पन्न करने की शक्ति ही शब्दार्थ है। स्टीवेंसन के अनुसार ये प्रतिक्रियायें दो प्रकार की होती हैं : संज्ञानात्मक एवं भावात्मक। "किसी शब्द का वर्णनात्मक अर्थ उसकी वह प्रवृत्ति है जिसके द्वारा वह संज्ञानात्मक मानसिक प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है।"[30] यहाँ 'संज्ञानात्मक' का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया गया है जिसके अन्तर्गत् विश्वास करना, विचार करना, मान लेना आदि मानसिक अवस्थाओं का बोध होता है। इसके विपरीत "संवेगात्मक अर्थ किसी शब्द की वह प्रवृत्ति है जिसे यह शब्द संवेगात्मक परिस्थितियों में बार-बार प्रयुक्त होने से प्राप्त करता है तथा जिसके द्वारा यह अभिवृत्तियों का वर्णन करने के स्थान पर उन्हें जागृत अथवा व्यक्त करता है।"[33] स्टीवेंसन का मत है कि वर्णनात्मक एवं संवेगात्मक अर्थों का विकास एक ही प्रक्रिया में होता है और दोनों अर्थ परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होते है। किन्तु इन अर्थों के स्वरूप में अन्त होता है। दोनों प्रकार के अर्थ बार-बार समान स्थितियों में प्रयोग किये जाने पर अर्थ प्राप्त करते है। इस प्रकार दोनों अर्थ अनुकूलन के परिणाम होते है। किन्तु वर्णनात्मक अर्थ भाषाई नियमों के द्वारा स्थायित्व एवं सूक्ष्म अन्तर प्राप्त कर लेते है। भाषाई नियम शब्दों के पारस्परिक सम्बन्धों के नियम हैं। इन्हें सिन्टैक्स के नियम कहा जाता है। किन्तु संवेगात्मक अर्थ भाषाई नियमों से नियन्त्रित नहीं होते। संकेतिक या लक्षणार्थ ही उनका संवेगात्मक अर्थ है। हम पहले ही देख चुके हैं कि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त अर्थ की व्याख्या करने में एवं उसका स्वरूप बताने में पूर्णतः असफल है। सर्वप्रथम भाषाई नियम सिन्टैक्स एवं सिमैटिक्स दोनों से नियंत्रित होते है। दूसरी कठिनाई यह है कि मनोवैज्ञानिक प्रभावों का तादात्म्य अर्थ से नहीं हो सकता। मानसिक प्रभाव का कोई निश्चित रूप नहीं होता। तीसरे, केवल वर्णनात्मक अर्थ ही नही, संवेगात्मक अर्थ भी भाषाई नियमों, प्रयोग की रूढ़ियों एवं

किसी शब्द से किसी भी भाव का संकेत हो सकता है। एक व्यक्ति के 'लाल' शब्द रक्त का संकेत हो सकता है, किन्तु अन्य व्यक्ति इससे दूसरे संकेत समझ सकते हैं। पर इस पक्ष को हम शब्द का अर्थ नहीं कह सकते। अधिक से अधिक इसे पर्लोक्युशनरी कार्य के अन्तर्गत् माना जा सकता है। किन्तु पर्लोक्युशन अर्थ से भिन्न है। दूसरे शब्द का सांकेतिक अर्थ भाषाई नियमों से निर्धारित होता है। स्टीवेंसन के अनुसार संवेगात्मक अर्थ केवल मनोवैज्ञानिक साहचर्य एवं आदतों पर निर्भरहै। संवेगात्मक अर्थ अस्पष्ट होते हैं किन्तु भाषाई नियम निश्चित एवं स्पष्ट। पर नियम अस्पष्ट एवं अनिश्चित क्यों नही हो सकते। संभवतः वह भाषाई नियमों को गणित के नियमों के समान मानता है और अनिश्चित नियमों को नियम नहीं मानता। यदि इस पूर्वाग्रह का त्याग कर दिया जाय तो संवेगात्मक अर्थ भी भाषाई नियमों से सम्बन्धित हो जाते हैं। शब्दों का लक्षणार्थ नियमों एवं प्रयोग की रूढ़ियों से नियंत्रित होता है। जहाँ संकेत का अर्थ केवल साहचर्य है वहाँ अर्थ का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी प्रकार अनुकूलन की प्रक्रिया और नियमों का प्रयोग एक ही अर्थ में अर्थ के लिए संभव नहीं है। नियमों के रूप में हम अर्थ को एक रूप में लेते हैं किन्तु अनुकूलन एवं प्रवृत्तियों के रूप में पूर्णतः भिन्न रूप में। अर्थ का विवेचन प्रयोग के नियमों के द्वारा ही हो सकता है, साहचर्य, अनुकूलन एवं प्रवृत्तियों के द्वारा नही। अर्थ एवं नियम सीखे जाते है, हम उन्हें याद रखते हैं और भूल सकते हैं, उन्हें ठीक से समझ सकते है या गलती कर सकते है। किन्तु प्रवृत्तियों के लिए यह नही कहा जाता कि हम उन्हें सीखते हैं, याद रखते हैं या भूल जाते हैं, उन्हें ठीक से समझते हैं या गलती करते हैं। प्रवृत्तियॉ सीखने का विषय नही हैं। उनके गलत या सही होने का भी प्रश्न नही है। अतः स्टीवेंसन का अर्थ सिद्धान्त नितान्त भ्रामक एवं गलत है।

जहाँ तक नैतिक शब्दों का प्रश्न है केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि उनमें संवेगात्मक एवं वर्णनात्मक दोनों अर्थ होते है। प्रश्न यह है कि इनमें किस प्रकार का सम्बन्ध है। स्टीवेंसन के अनुसार यह सम्बन्ध तीन प्रकार का है : कुछ स्थितियों में संवेगात्मक अर्थ वर्णनात्मक अर्थों से स्वतंत्र होता है; कुछ में संवेगात्मक अर्थ वर्णनात्मक अर्थ पर निर्भर होता है एवं कुछ में

संवेगात्मक अर्थ वर्णनात्मक अर्थ से आंशिक रूप से स्वतंत्र होता है। इन सम्बन्धों पर ही नैतिक तर्क निर्भर होता है। अतः संक्षेप में इनका विवेचन आवश्यक है। मूर के सन्दर्भ में ही यही समस्या थी। मूर ने शुभत्व निर्धारक गुणों पर शुभत्व को निर्भर माना था, किन्तु दोनों प्रकार के गुणों की संतोषजनक व्याख्या न करने के कारण नैतिक तर्क की संभावना नही बनती। मूर की समस्या थी कि परिणामी गुण शुभत्व एवं प्राकृतिक गुणों में सम्बन्ध किस प्रकार का हो। स्टीवेंसन की समस्या है कि नैतिक शब्दों के वर्णनात्मक अर्थ एवं संवेगात्मक अर्थ का सम्बन्ध किस प्रकार का है। स्टीवेंसन लिखता है :

"जिस सीमा तक संवेगात्मक अर्थ वर्णनात्मक अर्थ का व्यापार नहीं है, बल्कि बिना वर्णनात्मक अर्थ के संभव है या इसमें परिवर्तन होने पर भी वही रहता है, यह स्वतंत्र है.....दूसरी तरफ जिस सीमा तक संवेगात्मक अर्थ वर्णनात्मक अर्थ का व्यापार है, एवं थोड़े अंतराल पर इसके साथ परिवर्तित हो जाता है, इसे हम परतन्त्र संवेगात्मक अर्थ कह सकते हैं।"[32] स्पष्ट है कि परतन्त्र संवेगात्मक अर्थ वर्णनात्मक अर्थ पर निर्भर है, अर्थात् ज्ञानात्मक दशा संवेगात्मक दशा का निर्धारण करती है। यहाँ वर्णनात्मक एवं संवेगात्मक अर्थों में तथ्यात्मक अथवा मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध है। निरीक्षण एवं प्रयोग से दोनों का सम्बन्ध ज्ञात हो सकता है। किन्तु इस सम्बन्ध में अर्थ के विषय में कोई त्रुटि सभव नहीं है जवकि अर्थ के संदर्भ में त्रुटियाँ संभव है। किसी शब्द को सुन कर हमारी जो भी संवेगात्मक प्रतिक्रिया होगी उस पर हमारा कोई नियंत्रण संभव नहीं है। 'छिपकली' शब्द हमारे मन में जुगुप्सा उत्पन्न कर सकता है किन्तु 'छिपकली' का अर्थ जुगुप्सा नहीं है। किन्तु सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि यदि संवेगात्मक अर्थ वर्णनात्मक अर्थ पर निर्भर है तो संवेगात्मक अर्थ व्यर्थ है। मान लीजिए मैं कहता हूँ 'क शुभ है' और क का शुभ होना क के अ, ब, स गुणों पर निर्भर है तो 'क शुभ है' के स्थान पर हम कह सकते हैं 'क में अ, ब, स गुण हैं।'[33] इस प्रकार परतन्त्र संवेगात्मक अर्थ के द्वारा किसी की अभिवृत्ति को प्रभावित या परिवर्तित करना संभव नहीं है। परतन्त्र संवेगात्मक अर्थ के साथ अभिव्यक्ति में असहमति तब तक नहीं हो सकती जब तक विश्वास में असहमति न हो।

किन्तु स्टीवेंसन स्वतंत्र संवेगात्मक अर्थ को भी स्वीकार करता है। उसका यह भी मत है कि एक बार संवेगात्मक अर्थ स्थापित हो जाने पर वह वर्णनात्मक अर्थ से स्वतंत्र हो जाता है एवं उसे प्रभावित भी करता है। उदाहरण के लिए संभव है कि 'प्रजातंत्र' के वर्णनात्मक अर्थ में परिवर्तन हो जाय फिर भी इसका प्रशंसात्मक अर्थ वही रहे। स्टीवेंसन स्वतंत्र सवेगात्मक अर्थ इसलिए मानता है जिससे अभिवृत्तियो को प्रभावित किया जा सके। उसका मत है कि जब शब्दों का संवेगात्मक अर्थ स्वतंत्र होता है तो उसमें प्रत्यक्ष संवेगात्मक प्रभाव रहता है। किन्तु क्या शब्दों का प्रत्यक्ष संवेगात्मक प्रभाव शब्दों का अर्थ माना जा सकता है? नैतिक निर्णय संवेगों एवं अनुभूतियों से शून्य हो सकते हैं एवं अन्य निर्णयों एवं चेष्टाओं तथा भंगिमाओं का प्रत्यक्ष संवेगात्मक प्रभाव हो सकता है। स्पष्ट है कि स्वतंत्र संवेगात्मक अर्थ नैतिक निर्णयों के वर्णनात्मक अर्थ को परिवर्तित नहीं कर सकते।

स्टीवेंसन की सबसे बड़ी भूल यह है कि उसने संवेग, अनुभूति एवं अभिवृत्ति में अन्तर नहीं किया है। संवेगों एवं अनुभूतियों के कारण हो सकते हैं, किन्तु उनके औचित्य का प्रश्न नही उठता। अभिवृत्तियॉ बौद्धिक होती हैं। उनके समर्थन में प्रमाण दिये जा सकते हैं।

इस सामान्य परिचय के पश्चात् हमें देखना है कि स्टीवेंसन नैतिक शब्दों का अर्थ किस प्रकार स्पष्ट: करता है। उसके अनुसार 'शुभ', 'उचित', 'चाहिए' एवं 'कर्त्तव्य' का अर्थ मुख्य रूप से संवेगात्मक एवं गौण रूप से वर्णनात्मक होता है। स्टीवेंसन भी 'शुभ' को अपरिभाषेय मानता है। मूर के अनुसार 'शुभ' इसलिए अपरिभाषेय है कि शुभ सरल, अविश्लेष्य, निर्प्राकृतिक गुण है। एअर के अनुसार शुभ इसलिए अपरिभाषेय है कि शुभ छद्म प्रत्यय है। स्टीवेंसन भी शुभ को परिभाषेय नहीं मानता। उसके अनुसार शुभ के संवेगात्मक एवं वर्णनात्मक दोनों आधारों पर इसकी परिभाषा संभव नहीं है। शुभ के संवेगात्मक अर्थ को अन्य किसी शब्द द्वारा उपयुक्त रूप से व्यक्त नहीं किया जा सकता। वह लिखता है : "यदि परिभाषा से आशा की जाती है कि इसमें 'शुभ' का प्रचलित संवेगात्मक अर्थ संरक्षित रहे तो 'शुभ' शब्द अपरिभाषेय है। इसका कोई भी पूर्णतः पर्यायवाची शब्द नहीं है।"[34] शुभ का वर्णनात्मक अर्थ भी है। इसका

वर्णनात्मक अर्थ उस वस्तु के गुणों का बोध कराता है जो शुभ वस्तु में है। जब हम कहते है कि वह अच्छा व्यक्ति, तो हमारा अर्थ है कि वह ईमानदार, दयालु, सरल आदि है। अन्य सन्दर्भों में 'शुभ' के वर्णनात्मक अर्थ दूसरे गुण हो सकते हैं। कुछ सन्दर्भों में 'अच्छा' का अर्थ रीति-रिवाज के अनुसार होना हो सकता है। इन सन्दर्भों में 'शुभ' (अच्छा) का अर्थ पूर्णतः वर्णनात्मक है।[35] इस आधार पर स्टीवेसन मानता है कि 'शुभ' का वर्णनात्मक अर्थ अस्पष्ट एवं अनिश्चित होता है। हम निश्चित रूप से नही कह सकते कि किसी विशेष प्रसंग में इस शब्द से वस्तु के किन गुणों का बोध होता है। साथ ही भिन्न-भिन्न प्रसंगों में भी इसके वर्णनात्मक अर्थ परिवर्तित होते रहते है। अतः वह मानता है कि वर्णनात्मक अर्थ के आधार पर भी 'शुभ' की परिभाषा असंभव है। अन्य नैतिक शब्दों में भी यही अस्पष्टता एवं अनिश्चितता विद्यमान रहती है। वह लिखता है : "हमें इस तथ्य का अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि नैतिक शब्दों का प्रयोग एक ही प्रकार के नियमों के आधार पर नहीं होता एवं विश्लेषण से एक निश्चित अर्थ नहीं बताया जा सकता।"[36] यह अस्पष्टता एवं अनिश्चितता नैतिक शब्दों को अन्य वर्णनात्मक शब्दों से पृथक् करती है।

'शुभ' के समान 'उचित', 'चाहिए' आदि शब्द भी मुख्य रूप से संवेगात्मक तथा गौण रूप से वर्णनात्मक होते है। इनमें भी वर्णनात्मक अर्थ अस्पष्ट एवं अनिश्चित होता है। पर दोनों में महत्वपूर्ण अन्तर है। 'शुभ' का प्रयोग व्यक्ति, वस्तु एव कार्यों के लिए समान रूप से किया जाता है, परन्तु 'चाहिए', 'उचित', 'कर्त्तव्य' का प्रयोग नैतिक सन्दर्भों में मानवीय कार्यों के लिए ही किया जाता है। हम कहते हैं : 'यह कर्म उचित है', 'यह कर्म हमारा कर्त्तव्य है', 'हमें यह कार्य करना चाहिए', आदि वस्तुओं तथा व्यक्तियों के नैतिक मूल्यांकन के लिए इनका प्रयोग नहीं होता, संवेगात्मक अर्थ में 'उचित' का प्रयोग किसी कर्म को करने लिए प्रोत्साहित करने के लिए किया जाता है। जब किसी व्यक्ति से कहा जाता है– "यह कर्म उचित है" तो हम उसे इसे करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। जब कहा जाता है : "यह कर्म अनुचित है" तो हम उसे इसे न करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। विश्लेषण के प्रथम प्रारूप से यह

स्पष्ट हो जाता है। ''यह उचित है'' का अर्थ है : मैं इसका अनुमोदन करता हूँ, तुम भी ऐसा करो। 'कर्त्तव्य' एवं 'उचित' में भी कुछ अन्तर है। हम कहते हैं अत्यधिक दान देना उचित है, किन्तु यह नहीं कह सकते कि अत्यधिक दान देना मनुष्य का कर्त्तव्य है। 'उचित' में बाध्यता कम होती है या नहीं होती है। उचित कर्म करने के लिए मनुष्य की प्रशंसा की जाती है, किन्तु कर्त्तव्य के लिए प्रशंसा नहीं की जाती। कर्त्तव्य न करने के लिए मनुष्य की निन्दा की जाती है। स्पष्ट है कि कर्त्तव्य में बाध्यता का अंश अधिक होता है। 'कर्त्तव्य' का प्रयोग नैतिक अर्थ में ही किया जाता है, जबकि 'अच्छा' के समान 'उचित एवं 'चाहिए' का प्रयोग नैतिक एवं निर्नैतिक दोनों सन्दर्भों में होता है।

नैतिक युक्तियों के विषय में स्टीवेंसन के विचारों का विवेचन करने के लिए हम फिर से विश्लेषण के दो प्रारूपों का उल्लेख करेंगे। प्रथम प्रारूप में वर्णनात्मक एवं संवेगात्मक अर्थों को इस प्रकार व्यक्त किया गया है :

1 ''यह शुभ है'' का अर्थ है—मै इसका अनुमोदन करता हूँ; तुम भी ऐसा करो।

2. ''यह अशुभ है'' का अर्थ है—मैं इसका अननुमोदन करता हूँ; तुम भी ऐसा करो।

3. ''उसे ऐसा करना चाहिए'' का अर्थ है—मैं उमके द्वारा ऐसा न करने का अननुमोदन करता हूँ; तुम भी ऐसा करो।

इन उदाहरणों में प्रथम भाग वर्णनात्मक एवं द्वितीय भाग संवेगात्मक है। वर्णनात्मक भाग के कारण नैतिक निर्णय केवल संवेगात्मक अभिव्यक्तियों से भिन्न होता है। इसी प्रकार संवेगात्मक अर्थ के कारण नैतिक निर्णय केवल तथ्यात्मक कथनों से भी भिन्न होते हैं। इसी के साथ स्टीवेंसन नैतिक निर्णयों को मात्र आदेशात्मक कथनों से भी भिन्न मानता है। मुख्य रूप से यहाँ दो अन्तर है। प्रथम स्पष्ट आदेश देने पर आदेश का औचित्य सिद्ध करना आवश्यक नहीं होता, जबकि नैतिक निर्णय के लिए औचित्य सिद्ध करना आवश्यक होता है। दूसरे केवल आदेश देना विरोध की प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सकता है, किन्तु नैतिक निर्णय सूक्ष्म एवं परोक्ष रूप से आदेशात्मक होते हैं। अतः उनका पालन सहजता से किया जाता है।

किन्तु प्रथम प्रारूप से नैतिक निर्णयो का वर्णनात्मक पक्ष पूरी तरह से स्पष्ट नहीं होता। इसीलिए स्टीवेंसन विश्लेषण का द्वितीय प्रारूप देता है। इसके अनुसार : "क शुभ है" का अर्थ है—क में अ, ब, स गुण या सम्बन्ध है और इसमें प्रशंसात्मक संवेगात्मक अर्थ भी है।

इस विश्लेषण में वर्णनात्मक अर्थ अधिक स्पष्ट है। किन्तु स्टीवेंसन ने इस द्वितीय प्रारूप का प्रयोग मुख्य रूप से नैतिक नियमों एवं मानकों के लिए किया है। यही कारण है कि नैतिक तर्कना का स्वरूप स्पष्ट करने में वह सफल नहीं रहा। इसका विवेचन आगे किया जायेगा।

नैतिक तर्कना पर विचार करने के पूर्व संक्षेप में नैतिक पदों एवं निर्णयों पर उसके सिद्धान्त का मूल्यांकन आवश्यक है। उसके मनोवैज्ञानिक अर्थ सिद्धान्त के कारण नैतिक भाषा का उसका विश्लेषण भी अपूर्ण एवं भ्रामक है। अर्थ-सिद्धान्त पर प्रथम अध्याय में विचार हो चुका है। यहाँ केवल कुछ बिन्दुओं का विवेचन अभिष्ट है। (1) जैसा अर्मसन[37] ने दिखाया है। स्टीवेंसन संवेगात्मक अर्थ में संवेग, अनुभूति एवं अभिवृत्ति तीनों को सम्मिलित करता है। किन्तु संवेग, अनुभूति एवं अभिवृत्ति में कोटि-भेद है। अभिवृत्तियों के लिए जानबूझ कर चुनना, स्वीकारना एवं उनके लिए उत्तरदायित्व की बात की जाती है, किन्तु संवेगों एवं अनुभूतियों के लिए नहीं। इसी प्रकार अभिवृत्तियों में सुसंगति एवं तार्किक रूप से उन्हें मानने या त्यागने की बात की जाती है, पर संवेगों के लिए नहीं। स्टीवेंसन अभिवृत्तियों को प्रवृत्तिमूलक मानता है, किन्तु हम प्रवृत्तियों को चुनने तथा उनसे मुक्त होने की बात नही करते। यदि उसने इन तथ्यों पर ध्यान दिया होता तो वह यह न मानता कि नैतिक निष्कर्ष वैध या अवैध नहीं होते। यदि किसी व्यक्ति से पूछा जाय कि उसकी विशेष अनुभूतियॉं क्यों हैं तो वह कुछ कारण बतायेगा, पर यदि पूछा जाय कि उसकी अभिवृत्तियाँ क्यों है तो वह इनके लिए तर्क देगा। अनुभूतियों के लिए तर्क नहीं दिये जाते किन्तु अभिवृत्तियों के लिए तर्क दिये जाते हैं, उनका औचित्य सिद्ध किया जाता है।

अर्मसन[38] के अनुसार स्टीवेंसन विश्लेषण के प्रथम प्रारूप में "मैं इसका अनुमोदन करता हूँ" को पूर्णतः वर्णनात्मक मानता है। अर्थात् इसका सम्बन्ध केवल विश्वास से है, अभिवृत्ति से

नहीं। किन्तु स्टीवेंसन का एक उदाहरण है : अ कहता है "यह शुभ है" और ब का उत्तर है "मै पूर्णतः सहमत हूँ। यह वास्तव में शुभ है"। स्टीवेंसन अ के कथन का विश्लेषण इस प्रकार करता है "मैं इसका अनुमोदन करता हूँ, तुम भी ऐसा करो" और ब के कथन का विश्लेषण है–"मैं इसका अनुमोदन करने में तुम्हारे साथ हूँ, ऐसा करता भी हूँ"। स्टीवेंसन कहता है कि इन कथनों का वर्णनात्मक अर्थ अभिवृत्ति में एकता दिखाता है और पर्याप्त रूप से अभिवृत्ति की सहमति बताता है।[39] किन्तु इससे सिद्ध होता है कि "मैं इसका अनुमोदन करता हूँ" केवल वर्णनात्मक नहीं है। अतः अर्मसन के अनुसार यहाँ विसंगति स्पष्ट है। इसी प्रकार अर्मसन[40] विश्लेषण के द्वितीय प्रारूप में भी असंगति मानता है। स्टीवेंसन कहता है : "यद्यपि 'शुभ' अस्पष्ट है, यह इतना अस्पष्ट नहीं है कि इन परिवर्त्यों (अ, ब, स) के लिये किसी भी शब्द का प्रयोग किया जा सके।"[41] किन्तु बाद में वह 'शुभ' के अर्थ में दोहरी अनेकार्थता का संकेत देता है। वह ऐसा कोई कारण नहीं बताता कि क्यों 'शुभ' का जो भी अर्थ है उसमें (अ) जब एक व्यक्ति द्वारा अनेक वस्तुओं के लिए इसका प्रयोग किया जाता है और (ब) जब एक ही वस्तु के लिए भिन्न-भिन्न अभिवृत्तयों वाले व्यक्तियों द्वारा इसका प्रयोग किया जाता है, तो असीमित रूप से परिवर्तन नहीं हो सकता। अर्थात् एक तरफ वह मानता है कि शुभ का वर्णनात्मक अर्थ सीमित है, किन्तु दूसरी तरफ वह मानता है कि इस परिवर्तन की कोई निश्चित सीमा नहीं है। अर्मसन के अनुसार यह विसंगति नैतिक भाषा का स्वरूप ठीक से न समझने के कारण है।

जी० जे० वार्नाक[42] के अनुसार स्टीवेंसन मानता है कि नैतिक भाषा का प्रयोग मूल रूप से "प्रभाव उत्पन्न करने के लिए किया जाता है।"[43] वार्नाक के अनुसार इसके लिए तीन मान्यतायें आवश्यक हैं : (1) यह मान लिया जाता है कि श्रोता का नैतिक मत वक्ता से भिन्न है, (2) वक्ता चाहता है कि श्रोत का भी वही मत हो; (3) वक्ता का विचार है कि उसके निर्णय के कारण श्रोता के मन में परिवर्तन हो सकता है।[44] वार्नाक के अनुसार यह संभव है कि ये तीनों शर्तें पूरी न हों, फिर भी नैतिक निर्णय देना संभव है। यह संभव है कि मेरे

श्रोता का पहले से ही यही मत हो। यह भी संभव है कि मुझे इसकी चिन्ता ही न हो। मैं यह भी न सोचूँ कि मेरा उस पर प्रभाव पड़ेगा या नहीं। अर्मसन का विचार है कि मूल्याकन निकष आधारित क्रिया है, किन्तु स्टीवेंसन निकष निर्धारण एवं निकष के प्रयोग में अन्तर नहीं करता। यहाँ एक प्रश्न विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। स्टीवेंसन ने 'शुभ' एवं अन्य मूल्यात्मक शब्दों का अन्तर करते हुए लिखा है कि नैतिक शुभ के साथ "एक विशेष गंभीरता एवं आवश्यकता का भाव रहता है।"[45] किन्तु हडसन[46] का मत है कि गंभीरता एवं आवश्यकता नैतिकता के विभेदक गुण नही हो सकते। यदि मैं गंभीरता एवं आवश्यकता की अनुभूति के साथ निर्णय देता हूँ कि नित्य प्रातः एक घंटा घूमना चाहिए तो इसे नैतिक निर्णय नहीं माना जा सकता।

नैतिक तर्कना का स्वरूप

स्टीवेंसन के नैतिक तर्कना के सिद्धान्त के कुछ आवश्यक अवयवों का ऊपर विवेचन किया गया है। संक्षेप में ये हैं :

1. नैतिक शब्दों एवं निर्णयों के संवेगात्मक एवं वर्णनात्मक दोनों अर्थ होते हैं एवं दोनों घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है।

2. संवेगात्मक अर्थ या तो वर्णनात्मक अर्थ से स्वतंत्र होते हैं या उस पर निर्भर। यदि संवेगात्मक अर्थ वर्णनात्मक अर्थ पर निर्भर है तो वर्णनात्मक अर्थ में परिवर्तन होने से संवेगात्मक अर्थ में भी परिवर्तित हो जाता है, और यदि संवेगात्मक अर्थ स्वतंत्र है तो संवेगात्मक अर्थ वर्णनात्मक अर्थ को प्रभावित करता है।

3. विश्लेषण के दो प्रारूप वर्णनात्मक एवं संवेगात्मक अर्थों को स्पष्ट करते हैं। ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, और इन्हीं के आधार पर युक्तियाँ संभव हैं।

किन्तु नैतिक तर्कना के दो अन्य आवश्यक अवयव हैं : सहमति एवं असहमति का विवेचन तथा प्रवर्त्तक परिभाषा। अतः इनके माध्यम से स्टीवेंसन के विचारों का विश्लेषण अपेक्षित है।

एअर के अनुसार नैतिक तर्क संभव नही है, किन्तु स्टीवेंसन इन तर्कों को संभव एवं आवश्यक मानता है। किन्तु सर्वप्रथम यह जान लेना आवश्यक है कि नैतिक विवाद में होने वाली असहमति का स्वरूप क्या है। बिना इसे समझे नैतिक तर्कों का स्वरूप स्पष्ट नही होता। उसने असहमति को दो प्रकारो मे विभाजित किया है : विश्वास सम्वन्धी सहमति या असहमति और अभिवृत्ति सम्बन्धी सहमति या असहमति। इनके अतिरिक्त उसने अभिवृत्ति विषयक विश्वास सम्बन्धी सहमति या असहमति को भी स्वीकार किया है जो उसके अनुसार प्रथम प्रकार के समान है। विश्वास सम्वन्धी सहमति या असहमति का सम्वन्ध हमारे विश्वासों से है। ये विश्वास तथ्यों से सम्बन्धित होते हैं। ये तथ्य निरीक्षण एवं प्रयोगों द्वारा जाने जाते हैं। अतः वैज्ञानिक विधियों द्वारा इनके सत्य या असत्य होने की परीक्षा संभव है। किसी वस्तु, घटना या वस्तु स्थिति के विषय में दो व्यक्तियों में मतैक्य या मतभेद हो सकता है। यही विश्वास सम्बन्धी सहमति या असहमति है। विज्ञानों में इसी प्रकार की सहमति या असहमति होती है। अभिवृत्ति विषयक विश्वास सम्बन्धी सहमति या असहमति का स्वरूप भी यही है। अन्तर केवल यह है कि इसमें मतैक्य अथवा मतभेद का विषय व्यक्तियों की अभिवृत्तियाँ हैं। उदाहरण के लिए क का विश्वास है कि अ स को पसन्द करता है, किन्तु ख का विश्वास है कि अ स को पसन्द नही करता। यहॉ विवाद किसी व्यक्ति की अभिवृत्तियों के वर्णात्मक रूप से होता है। यह असहमति भी अन्ततः विश्वास से ही सम्बन्धित है।

स्टीवेंसन का मत है कि अभिवृत्ति सम्बन्धी सहमति या असहमति विश्वास सम्बन्धी सहमति या असहमति से पूर्णतः भिन्न होती है। इसमें असहमति का सम्वन्ध विश्वास से न होकर हमारी अभिवृत्तियों, भावनाओं, इच्छाओं एवं आकांक्षाओं से होता है। जब दो व्यक्ति किसी वस्तु के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी अभिवृत्तियाँ व्यक्त करते हैं तो इसे अभिवृत्ति सम्बन्धी असहमति कहा जाता है, और यदि दोनों की अभिवृत्तियाँ एक ही हैं तब अभिवृत्ति सहमति होती है। वह लिखता है : ''इन दोनों प्रकार की सम्बन्धी असहमतियों में मुख्य अन्तर यह है कि विश्वास सम्बन्धी असहमति का सम्बन्ध तथ्यों के सही वर्णन या व्याख्या से है, किन्तु अभिवृत्ति सम्बन्धी

असहमति का सम्बन्ध इन तथ्यों को पसन्द करने या न करने एवं मानवीय प्रपत्रों द्वारा इन्हें नवीन रूप देने से है।"[47] स्टीवेंसन के अनुसार इन दोनों में मूलभूत अन्तर है। यह संभव है कि किसी वस्तु के सम्बन्ध में दो व्यक्तियों के विश्वासों में कोई अन्तर न हो फिर भी उनकी अभिवृत्तियों में अन्तर हो। इसी प्रकार दो व्यक्तियो में अभिवृत्तियों में अन्तर न होते हुए भी उनमें विश्वास सम्बन्धी असहमति हो सकती है। स्टीवेंसन मानता है कि तार्किक रूप से दोनों असहमतियाँ एक दूसरे पर निर्भर न होकर पूर्ण स्वतंत्र हैं।

इन दोनों असहमतियों को स्वतंत्र मानते हुए भी स्टीवेंसन इन्हें परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध मानता है। उसके अनुसार हमारे व्यावहारिक जीवन में विश्वास एवं अभिवृत्तियॉ प्रायः परस्पर सम्बन्धित होती हैं तथा इन पर आश्रित सहमति एवं असहमति भी एक साथ मिलती हैं। अधिकतर विवादों में दोनों असहमतियाँ साथ-साथ होती हैं। किसी में एक की प्रधानता होती है। किसी में दूसरे की। वह लिखता है : "हमारी अभिवृत्तियों का हमारे विश्वासों पर प्रायः प्रभाव पड़ता है।......इसी प्रकार हमारे विश्वास भी हमारी अभिवृत्तियों पर प्रायः प्रभाव डालते हैं, क्योंकि जब हम किसी वस्तु के विषय में अपने विश्वास परिवर्तित कर लेते हैं तो उसके प्रति हमारे अनुमोदन में भी परिवर्तन आ जाता है।.....वस्तुतः कुछ स्थितियों मे एक असहमति का अस्तित्व दूसरी असहमति पर पूर्णतः निर्भर होती है।"[48]

नैतिक विवादों में किस प्रकार की असहमति मिलती है? स्टीवेंसन का विचार है कि प्रायः नैतिक विवादों में विश्वास सम्बन्धी असहमति को ही महत्व दिया जाता है तथा अभिवृत्ति सम्बन्धी असहमति की उपेक्षा की जाती है, किन्तु उसके अनुसार यह मत अनुचित है। अन्य विवादों के समान नैतिक विवाद में भी दोनों असहमतियाँ विद्यमान रहती हैं। इतना ही नहीं नैतिक विवादों में अभिवृत्ति सम्बन्धी असहमति की प्रधानता होती है। इसका कारण यह है कि नैतिक निर्णय मूलतः संवेगात्मक होते हैं जिनके द्वारा हम अपनी भावनाओं को व्यक्त करते हैं तथा अन्य व्यक्तियों में इन भावनाओं को जाग्रत कर कुछ करने या न करने के लिए प्रेरित करते

है। इसीलिए दो व्यक्तियों में अभिवृत्ति सम्बन्धी असहमति के समाप्त होने पर उनका नैतिक विवाद समाप्त हो जाता है।

अब प्रश्न यह है कि नैतिक विवादों को समाप्त करने के लिए किन विधियों का प्रयोग हो सकता है? क्या इन विवादों का अन्त करने के लिए वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग हो सकता है? क्या इसके लिए वैसे ही तर्क सभव है जैसा विज्ञानो मे आगमन के रूप में होता है या गणित में निगमन के रूप में? अथवा नैतिक विवादों के समाधान के लिए किसी अन्य प्रमाण की संभावना है? स्टीवेंसन का मत है कि जो नैतिक विवाद मुख्य रूप से विश्वास सम्बन्धी असहमति पर आधारित होते हैं, उनका समाधान, प्रयोग, निरीक्षण आदि वैज्ञानिक विधियों द्वारा किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि विश्वास का आधार कुछ तथ्य होते है जिनकी वैज्ञानिक विधियों द्वारा परीक्षा संभव है। इन विधियों द्वारा विश्वास सम्बन्धी असहमति समाप्त हो जाने पर अभिवृत्ति सम्बन्धी असहमति भी समाप्त हो सकती है। इसका कारण यह है कि प्रायः हम एक सी सामाजिक परिस्थिति में रहते हैं, एक सी नैतिक शिक्षा प्राप्त करते हैं। अतः हमारे मूल्य या अभिवृत्तियाँ भी एक सी होती हैं। प्रायः समान विश्वास के साथ समान अभिवृत्तियाँ रहती है। फलस्वरूप विश्वास सम्बन्धी सहमति होने पर अभिवृत्ति सम्बन्धी सहमति भी स्थापित हो जाती है। स्टीवेसन कहता है : "यह स्पष्ट है कि जिस सीमा तक विवाद में विश्वास सम्बन्धी असहमति पाई जाती है उसका अन्त करने के लिए विज्ञानों की सामान्य विधियों का प्रयोग किया जा सकता है। यदि विश्वासों की पुष्टि के लिए केवल ये विधियॉ ही बौद्धिक विधियाँ हैं – और मैं मानता हूँ कि ऐसा ही है – तो मूल्यों से सम्बन्धित विवादों में पाई जाने वाली विश्वास सम्बन्धी असहमति को इन्हीं वैज्ञानिक तथा बौद्धिक विधियों द्वारा समाप्त किया जा सकता है।.......प्रारम्भ में ये विधियाँ केवल विश्वास सम्बन्धी सहमति ही स्थापित कर सकती हैं। इसके पश्चात् यदि ये विधियाँ अभिवृत्ति सम्बन्धी सहमति भी स्थापित करती हैं तो इसका कारण केवल यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि विश्वासों में परिवर्तन के फलस्वरूप अभिवृत्तियों में भी परिवर्तन होता है।"[49]

किन्तु स्टीवेंसन का मत है कि विश्वासों एवं अभिवृत्तियों में केवल तथ्यात्मक या कारणात्मक सम्वन्ध होता है, न कि तार्किक सम्वन्ध। वह लिखता है : "जव भी विवाद होता है दोनों प्रकार की असहमतियों का सम्वन्ध सदैव तथ्यात्मक होता है, तार्किक कभी नही। जहाँ तक तार्किक संभावनाओं का प्रश्न है विश्वास में असहमति बिना अभिवृत्ति के असहमति के संभव है; क्योंकि यदि कोई युक्ति सदा प्रेरित होकर कभी भी अभिवृत्ति रहित नही है तो भी यह सिद्ध नहीं होता कि परस्पर विरुद्ध विश्वासों से सम्वद्ध अभिवृत्तियाँ भी परस्पर विरोधी हैं।"[50]

स्टीवेंसन का मत है कि विश्वासों में सहमति होने पर भी अभिवृत्ति में असहमति हो सकती है क्योंकि विश्वास एवं अभिवृत्ति में तार्किक सम्वन्ध नहीं होता। हमारी भावनाओं एवं अभिवृत्तियों पर वैज्ञानिक विधियों का प्रत्यक्षतः प्रभाव पड़ना अनिवार्य नही है। "कम से कम तार्किक दृष्टि से यह संभव है कि यद्यपि दो व्यक्तियों के सभी विश्वास समान हों और किसी ने भी तार्किक या आगमनात्मक भूल न की हो अथवा किसी प्रासंगिक प्रमाण की उपेक्षा न की हो, फिर भी उन दोनों व्यक्तियों में अभिवृत्ति सम्बन्धी असहमति विद्यमान हो। पूर्ण वैज्ञानिक सत्य से भलीभांति अवगत होते हुए भी अपने स्वभाव, प्रारम्भिक प्रशिक्षण अथवा सामाजिक स्थिति में भिन्नताओं के कारण दो व्यक्ति भिन्न-भिन्न अभिवृत्तियाँ बनाये रख सकते हैं।........विज्ञान की पूर्णतः वौद्धिक विधियाँ और वास्तव मे तर्कना सम्बन्धी सभी विधियाँ – मूल्यों से सम्वन्धित विवादों को समाप्त करने में अपर्याप्त सिद्ध हो सकती हैं, यद्यपि वे इसमें वहुत सहायता कर सकती हैं।"[51]

अब प्रश्न है कि अभिवृत्ति सम्बन्धी असहमति को समाप्त करने के लिए स्टीवेंसन किन प्रमाणों को स्वीकार करता है? वास्तव में स्टीवेंसन ने तीन प्रकार की युक्तियों को स्वीकार किया है। प्रथम प्रकार की युक्ति में आगमनात्मक एवं निगमनात्मक विधियाँ सम्मिलित हैं जो नैतिक निष्कर्षों से सम्बन्धित विश्वासों को स्थापित करती हैं। यह नैतिक तर्कना से सम्बन्धित तथ्यात्मक या वर्णनात्मक पक्ष है जिसका विवेचन ऊपर किया गया है। इसके सम्बन्ध में नैतिक तर्कना की विशिष्ट विधि की समस्या नहीं है। मूर ने भी नैतिक तर्कना को कारण-कार्य से सम्बन्धित माना था। वहाँ यह स्पष्ट किया गया था। यह प्रक्रिया नैतिक तर्क की प्रारम्भिक स्थिति है। इससे

केवल नैतिक तर्क के आधार वाक्य प्राप्त होते हैं। क्या इनसे नैतिक निष्कर्ष निकाला जा सकता है? किन्तु इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर न मूर ने दिया है न स्टीवेंसन ने। दूसरे प्रकार की युक्ति प्रवर्त्तक युक्ति है। इसका उद्देश्य अत्यधिक संवेगात्मक शब्दों के प्रयोग द्वारा श्रोता की अभिवृत्ति में परिवर्तन करना है। कुछ शब्दों में स्वतंत्र संवेगात्मक शक्ति है जो श्रोता को वांछित दिशा में ले जाने में सफल होती है। उदाहरण के लिए :

अ कहता है : विना हमसे परामर्श किए अध्यक्ष को निर्णय लेने का कोई अधिकार नहीं है।

ब का उत्तर है : वह अध्यक्ष है।

अ कहता है : हॉ, किन्तु तानाशाह नही है।

यहाँ 'तानाशाह' का प्रयोग ब की अभिवृत्तियों में परिवर्तन करने के लिए किया गया है।

तीसरे प्रकार की युक्तियों को स्टीवेंसन "हेतु देना या तर्क देना" कहता है। प्रवर्तक युक्ति के समान यह भी मनोवैज्ञानिक युक्ति है। अन्तर केवल यह है कि वह प्रवर्त्तक विधि को निर्बौद्धिक तथा तीसरी युक्ति को बौद्धिक मनोवैज्ञानिक विधि मानता है। इसमें ऐसे कथनों या विश्वासों का उपयोग किया जाता है जिनका उद्देश्य मनोवैज्ञानिक या कारणात्मक रूप से श्रोता की अभिवृत्ति को प्रभावित करके नैतिक निष्कर्ष को स्वीकार करवाना है। इस प्रकार के हेतु केवल नैतिक निष्कर्ष को पुष्ट करने के लिए दिये जाते हैं। यहाँ भी वैधता का प्रश्न नहीं उठता।

वास्तव मे स्टीवेंसन तार्किक एवं मनोवैज्ञानिक दोनो का प्रयोग करता है। किन्तु तार्किक विधि का कार्य केवल असंगति का प्रदर्शन है। असगति का प्रदर्शन दो प्रकार से हो सकता है : (1) विश्लेषण के प्रथम प्रारूप के अनुसार विधेय में असंगति दिखाकर एवं (2) द्वितीय प्रारूप के अनुसार परिभाषा में अन्तर बताकर। मान लीजिए कोई व्यक्ति कहता है : क शुभ है। क्यों? क्योंकि क में स गुण है। इस पर कहा जा सकता है कि ख में भी स है, किन्तु तुम उसे शुभ नहीं मानते। किन्तु इस विरोध से कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकलता। उस

व्यक्ति के समक्ष दो विकल्प है : (1) वह क और ख दोनों को शुभ माने (2) वह क, ख दोनों को अशुभ मान ले। बौद्धिक मनोवैज्ञानिक विधि जिसमें हेतु दिये जाते हैं कई प्रकार की हो सकती है। इसमें संपूर्णता पर ध्यान दिया जा सकता है। मान लीजिए मैं कहता हूँ कि क शुभ है क्योकि इसमें स गुण है। पर संभव है मैने अन्य गुणों पर ध्यान न दिया हो जिन्हें जान लेने पर मैं क को शुभ न मानूँ। यह भी हो सकता है कि क में स का होना सत्य न हो और हमें अपनी अभिवृत्ति में परिवर्तन करना पड़े। कुछ तर्कों का सम्बन्ध कार्य के प्रयोजन या हेतु से हो सकता है। कुछ का सम्बन्ध कार्य के संभावित परिणाम से होता है। इस प्रकार हम ऐसे सभी विश्वासों या कथनों का प्रयोग तर्क के रूप में कर सकते हैं जिन्हें हम नैतिक निष्कर्ष की पुष्टि के लिए प्रासंगिक मानते हैं। स्टीवेंसन कहता है कि इसके लिए किसी तथ्य या विश्वास का प्रयोग संभव है।

मूल्यांकन

स्टीवेंसन मानता है कि कोई व्यक्ति अपने मन में उठने वाले विवाद का भी समाधान करता है, किन्तु इन विवादों का विवेचन दो व्यक्तियों के माध्यम से अधिक स्पष्टता के साथ किया जा सकता है। इस प्रकार के सभी विवादों मे विश्वास एवं अभिवृत्ति की असहमति रहती है, किन्तु प्रधानता अभिवृत्ति की ही होती है। नैतिक निर्णयों का प्रयोजन कुछ करने या न करने के लिए प्रेरित करना है। अतः नैतिक विवाद कभी भी तटस्थ तथ्यात्मक भाषा में व्यक्त नहीं होता। इसके लिए संवेगात्मक शब्दों का प्रयोग अनिवार्य है। इसी प्रकार वह मानता है– और इसे वह केन्द्रीय सिद्धान्त कहता है – कि दोनों प्रकार की असहमतियों (विश्वास एवं अभिवृत्ति) का सम्बन्ध सदैव तथ्यात्मक होता है। कभी भी तार्किक नहीं।[52] स्टीवेंसन का यह सिद्धान्त नैतिक तर्कना का मूल स्वरूप वताता है। अन्य सभी बातें इसी का परिणाम हैं। स्टीवेंसन का यह भी दावा है कि उसका सिद्धान्त दैनिक जीवन में मिलने वाले नैतिक विवेचन पर आधारित है। क्या यह सत्य है? हम पाते हैं कि विश्वास एवं अभिवृत्ति में अन्तर होता है। हम इनके सम्बन्धों पर भी विचार करते हैं। किन्तु जैसा कार्नर[53] मानता है स्टीवेंसन का तर्कना का

सिद्धान्त वास्तव में विरोधग्रस्त है। वह मानता है कि विश्वास एवं अभिवृत्ति का सम्बन्ध कारणात्मक अथवा तथ्यात्मक है, न कि तार्किक। आप वही चाहते हैं, पसन्द करते है, अनुशंसित करते हैं जिसे चाहना चाहते है, पसन्द करना चाहते है या जिसकी प्रशंसा करना चाहते है और यही मामले का अन्त हो जाता है। किन्तु वास्तविकता यह है कि विश्वास एवं अभिवृत्ति में तार्किक सम्बन्ध होता है क्योकि हम उन विश्वासों का परीक्षण एवं मूल्यांकन करते है जो हमारी अभिवृत्तियों को प्रभावित करते है। हम केवल विश्वासों में ही संशोधन नही करते वल्कि उन अभिवृत्तियों में भी संशोधन करते है जो इन विश्वासों से सम्बद्ध है। कुछ विश्वासों के परिणामस्वरूप कुछ विशेष अभिवृत्तियों का होना आवश्यक है। यदि किसी व्यक्ति की अभिवृत्तियाँ उसके विश्वास के अनुरूप नही होती तो हम इसे उसकी भूल मानते हैं। यदि विश्वास एवं अभिवृत्ति में किसी प्रकार का तार्किक सम्बन्ध नहीं है, केवल तथ्यात्मक सम्बन्ध है, तो नैतिक तर्कना में नैतिक निष्कर्षों की पुष्टि प्रमाणों द्वारा असंभव हो जायेगी।

क्या नैतिक तर्क, स्टीवेंसन के अनुसार, वैध या अवैध होते हैं? उसका उत्तर है कि विश्वासों की परीक्षा के लिए जिन आगनात्मक या निगमनात्मक तर्कों का प्रयोग होता है उन्हें वैध या अवैध माना जा सकता है, किन्तु प्रवर्तक युक्तियाँ न वैध है न अवैध। इन युक्तियो के लिए वैधता का प्रयोग ही अप्रासंगिक है। तीसरे प्रकार का तर्क अधिक जटिल है। इसमें नैतिक निष्कर्ष के लिए हेतु बताये जाते हैं। स्टीवेंसन कहता है कि इन युक्तियों की विशेषता यह है कि इनमें तथ्यात्मक हेतु से नैतिक निष्कर्ष का अनुमान किया जाता है। अतः वह पूछता है कि क्या मानक युक्तियों के लिए कोई अन्य वैधता संभव है[54]? विवेचन करने के पश्चात् वह इसका निषेधात्मक उत्तर देता है। उसका मत है कि वैधता का सम्बन्ध सत्य से है। वैधता का अर्थ है कि यदि आधार वाक्य सत्य हैं तो निष्कर्ष अवश्य सत्य होगा।[55] किन्तु वह मानता है कि नैतिक हेतुओं का उद्देश्य अभिवृत्ति को प्रभावित करना, कर्म करने या न करने के लिए प्रेरित करना है, न कि तथ्यों का वर्णन करना। अतः यहाँ वैधता का प्रश्न ही नहीं उठता। नैतिक निर्णयों का तथ्यात्मक अंश सत्य या असत्य हो सकता है, किन्तु संवेगात्मक पक्ष, और

यही केन्द्रीय अंश है, सत्य या असत्य नहीं होता। पर यदि युक्ति वैध या अवैध नहीं है तो इसे युक्ति क्यों माना जाय? स्टीवेंसन का उत्तर है कि वैधता के अभाव का यह अर्थ नहीं है कि इन युक्तियो का मूल्यांकन नहीं हो सकता। मूल्यांकन की अन्य विधियॉ भी है जो इन्हें पक्षपात एवं मनमाने पन से बचाती है।[56] स्टीवेंसन के अनुसार ये विधियाँ है : क्या इस विधि में उपेक्षा या पक्षपातहै? क्या यह विधि बौद्धिक है अर्थात् क्या इसमें संज्ञानात्मक तत्त्व है? क्या यह केवल प्रवर्तक विधि है? क्या इसमें पूर्वाग्रह रहित दृष्टि है? स्टीवेंसन यह भी मानता है कि किस विधि का प्रयोग किया जाय यह स्वयं मानक नैतिक विषय है।[57] वह कहता है कि यदि कोई व्यक्ति निर्णय $नि_1$ देता है तो हम $नि_1$ पर निर्णय $नि_2$ दे सकते हैं, इसी प्रकार निर्णय $नि_2$पर निर्णय $नि_3$ इत्यादि। यहॉ अनवस्था दोष भी नही है क्योंकि हम युक्ति श्रृंखला के दूसरे छोर से आरम्भ नहीं करते। दूसरा छोर है ही नही।[58] जी० सी० कर्नर[59] के अनुसार कठिनाई दूसरे छोर से आरम्भ करने की नहीं है। आरम्भ इसी छोर से होता है। कठिनाई यह है कि हम आरम्भ के आगे वढ़ ही नहीं पाते। मैं पाता हूॅ कि मैं अ का अनुमोदन कर रहा हूँ। मै पाता हूँ कि मैं अपने अनुमोदन का अनुमोदन कर रहा हूॅ। चाहे जितने हेतु वताये जायं सभी के लिये केवल यही कहा जा सकता है कि मैं पाता हूँ कि मैं ऐसा कर रहा हूँ।

स्टीवेंसन के सिद्धान्त में एक और कठिनाई है। उसने बाह्य एवं आन्तरिक युक्तियों में अन्तर नहीं किया है। हम कभी-कभी पूरी तर्क प्रक्रिया पर प्रश्न उठाते हैं : क्या आगमन वैध है? क्या तर्क प्रक्रिया स्वयं वैध है? क्या बौद्धिकता वैध है? ये सभी बाह्य प्रश्न हैं। स्टीवेंसन के मूल्यांकन के मापदण्ड जैसा प्रभावपूर्ण होना, सूक्ष्म होना, मनमाना न होना आदि का प्रयोग इन पर हो सकता है। किन्तु आन्तरिक प्रश्न दूसरे प्रकार के हैं। एक बार किसी पद्धति को स्वीकार करने पर उसके अन्तर्गत आने वाले प्रमाणों के विषय में हम स्वतंत्र नहीं हो सकते।

इस प्रकार प्रवर्त्तक विधि एवं हेतु देने की विधि की अपनी तार्किक सीमायें एवं मान्यतायें हैं जिनके आधार पर इन युक्तियों को वैध या अवैध कहा जा सकता है।

स्टीवेंसन मानता है कि आदेशों के लिए भी हेतु दिये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए : "दरवाजा बन्द करो। क्यों? बाहर बहुत शोर हो रहा है।" यदि व्यक्ति चाहता है कि शोर से व्यवधान न पड़े तो वह तुरन्त आदेश का पालन करेगा; इसका अर्थ है कि वह व्यक्ति यदि प्रासंगिक तथ्यो को जान ले एव अपनी इच्छा की तृप्ति चाहता है तो वह स्वयं वही करता जो आदेश में कहा गया है। इस प्रकार के आदेश कांट के अनुसार सहेतुक आदेश हैं और सहेतुक आदेश के लिए तार्किक युक्तियॉ दी जाती हैं। स्टीवेंसन के समान केवल मनोवैज्ञानिक हेतुओं का तार्किक दृष्टि से कोई महत्व नहीं है। स्टीवेंसन के प्रथम प्रारूप को अब इस प्रकार रखा जा सकता है :

"मै क का अनुमोदन करता हूँ; यदि तुम ख चाहते हो तो ऐसा करो।"

किन्तु इस विवेचन से अहेतुक आदेश का विश्लेषण नही हो पाता। इसके लिए स्टीवेंसन प्रवर्त्तक विधि का प्रयोग करता है।

प्रवर्त्तक विधि में संवेगात्मक शब्दो के मात्र संवेगात्मक प्रभाव को महत्व दिया जाता है। यही शब्द या कथन का स्वतंत्र संवेगात्मक अर्थ है। वास्तव में स्वतंत्र संवेगात्मक अर्थ भाषा का अंग नहीं है अतएव प्रवर्त्तक विधि तर्कना का प्रकार नहीं है। स्टीवेंसन का एक उदाहरण है[60]:

अ. उसकी अवज्ञा करना तुम्हारे लिए नैतिक रूप से अनुचित है।

ब. मैं निश्चित रूप से ऐसा नहीं मानता।

अ. किन्तु उसका आदेश मानना तुम्हारा कर्त्तव्य है। नैतिक दायित्व के लिए तुम्हें ऐसा करना चाहिए।

स्टीवेंसन से अनुसार अ का दूसरा कथन सुदृढ़ संवेगात्मक अर्थ के द्वारा ब की अभिवृत्ति को प्रभावित करता है। किन्तु क्या यह वास्तव में हेतु माना जा सकता है? यही प्रभाव बल प्रयोग द्वारा उत्पन्न किया जा सकता है और बल प्रयोग पुष्टिकारक हेतु नहीं है। वास्तव में स्वतंत्र संवेगात्मक अर्थ नैतिक तर्कना को व्यर्थ कर देता है, और निर्भर संवेगात्मक अर्थ या वर्णनात्मक अर्थ केवल सहेतुक आदेशों का समर्थन कर सकता है। निष्कर्ष के रूप में हम कह

सकते हैं कि यद्यपि स्टीवेंसन ने एअर के सिद्धान्त में पर्याप्त सुधार किया है किन्तु वर्णनात्मक अर्थ एवं मूल्यात्मक अर्थ में कोई भी तार्किक सम्वन्ध न मानने के कारण उसका सिद्धान्त भी संतोषजनक नही रह जाता।

सन्दर्भ

1 आग्डेन, सी० के० एवं रिचर्ड्स, आई० ए०, 'द मीनिंग आफ मीनिंग', पृ० 125।

2. अर्मसन, जे० ओ०, 'द इमोटिव थ्योरी आफ एथिक्स' में उद्धृत।

3. हडसन, डब्ल्यू० डी०, 'मॉडर्न मॉरल फिलासफी', पृ० 114

4. ट्रैक्टेटस, 6 41

5. वही, 6 421

6. हडसन, द्वारा 'माडर्न मॉरल फिलासफी', पृ० 109 पर उद्धृत।

7. एअर, ए० जे०, 'लैंग्वेज ट्रुथ ऐण्ड लॉजिक', द्वि० सं० पृ० 138।

8. वही, पृ० 139

9 वही, पृ० 142

10 वही, पृ० 143

11. वही, पृ० 143

12. वही, पृ० 143

13 वही, पृ० 144

14. वही, पृ० 145

15. वही, पृ० 137

16. एअर, ए० जे०, 'फिलासाफिकल एसेज', पृ० 246

17. एअर, ए० जे०, 'लैंग्वेज ट्रुथ ऐण्ड लॉजिक', पृ० 20

18. एअर, ए० जे०, 'फिलासाफिकल एसेज', पृ० 231

19. एअर, ए० जे०, 'लैंग्वेज ट्रुथ ऐण्ड लॉजिक', पृ० 146

20 वही, पृ० 146

21 वही, पृ० 146–47

22 वही, पृ० 147

23. वही, पृ० 147

24. वही, पृ० 148

25. वही, पृ० 148

26. वही, पृ० 149

27. एअर, ए० जे०, 'फिलासाफिकल एसेज', पृ० 236–37

28. स्टीवेंसन, सी० एल०, 'एथिक्स ऐण्ड लैंग्वेज', पृ० ...

29. वही, पृ० 42

30 वही, पृ० 62

31. वही, पृ० 33

32. वही, पृ० 72–73

33. कर्नर, जी० सी०, 'द रेवोलूशन इन एथिकल थ्योरी', पृ० 56

34. स्टीवेंसन, सी० एल०, 'एथिक्स ऐण्ड लैंग्वेज', पृ० 82

35. वही, पृ० 83

36. वही, पृ० 87

37. अर्मसन, जे० ओ०, 'द इमोटिव थ्योरी आफ एथिक्स', 1968

38. वही, पृ० 54

39. स्टीवेंसन, 'एथिक्स ऐण्ड लैंग्वेज', पृ० 22

40. अर्मसन, जे० ओ०, 'द इमोटिव थ्योरी आफ एथिक्स', पृ० 78–79

41. 'एथिक्स ऐण्ड लैंग्वेज', पृ० 127

42. वार्नाक, जी० जे, 'कन्टेम्पोररी मॉरल फिलॉसफी'

43 अर्मस, जे० ओ०, 'फैक्ट्स ऐण्ड वैल्यू'', पृ० 16

44. वार्नाक, जी० जे, 'कन्टेम्पोररी मॉरल फिलॉसफी', पृ० 25

45. स्टीवेंसन, 'एथिक्स ऐण्ड लैंग्वेज', पृ० 90

46. हडसन, डब्ल्यू, डी०, 'माडर्न मॉरल फिलासफी', पृ० 150-51

47. स्टीवेंसन, सी० एल०, 'एथिक्स ऐण्ड लैंग्वेज', पृ० 4

48. वही, पृ० 5

49. स्टीवेंसन, सी० एल०, ''द नेचर आफ एथिकल डिसऐग्रीमेंट'' जोजेफ काट्ज द्वारा संकलित 'राइटर्स आन एथिक्स', पृ० 533

50 स्टीवेंसन, सी० एल०, 'एथिक्स ऐण्ड लैग्वेज', पृ० 6

51 काट्ज, जोजेफ, 'राइटर्स आन एथिक्स', पृ० 534

52. स्टीवेंसन, सी० एल०, 'एथिक्स ऐण्ड लैग्वेज', पृ० 6

53. कर्नर, जी० सी०, 'द रेवोलूशन इन एथिकल थ्योरी', पृ० 75

54. स्टीवेंसन, सी० एल०, 'एथिक्स ऐण्ड लैग्वेज', पृ० 153

55. वही, पृ० 155

56. वही, पृ० 156

57. वही, पृ० 158

58. वही, पृ० 158–159

59. कर्नर, जी० सी०, 'द रेवोलूशन इन एथिकल थ्योरी', पृ० 79

60. स्टीवेंसन, सी० एल०, 'एथिक्स ऐण्ड लैंग्वेज', पृ० 141

अध्याय–4

परामर्शवाद

संवेगवाद के पश्चात् जिस नैतिक सिद्धान्त का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है वह है आर.एम. हेअर का परामर्शवाद। इस सिद्धान्त का मूल रूप से विवेचन उसकी पुस्तकों *द लैंग्वेज आफ मॉरल्स* (1952) एवं *फ्रीडम एण्ड रीजन* (1963) में हुआ है। संवेगवादियों के समान परामर्शवाद असंज्ञानात्मक एवं अवर्णनात्मक सिद्धान्त है। नीतिशास्त्र की परिभाषा देते हुए *हेअर द लैंग्वेज आफ मॉरल्स* की प्रस्तावना में लिखता है कि "नीति शास्त्र नैतिक भाषा का तार्किक अध्ययन है।" *फ्रीडम एण्ड रीजन* में इसे "नैतिक शब्दों के तार्किक गुणों का अध्ययन" माना गया है। स्पष्ट है कि हेअर की मुख्य समस्यायें हैं : नैतिक शब्दों, निर्णयों तथा नैतिक तर्कना के स्वरूप का विवेचन प्रज्ञावाद एवं संवेगवाद की अपेक्षा हेअर ने नैतिक तर्कना की समस्या को अधिक गंभीरता से लिया है। किन्तु इस समस्या पर विचार करने के पूर्व नैतिक भाषा एवं नैतिक शब्दों का विवेचन आवश्यक है क्योंकि इन्हीं के परिप्रेक्ष्य में हेअर ने नैतिक तर्कना का स्वरूप बताया है।

नैतिक भाषा का विश्लेषण करते हुए हेअर ने प्रकृतिवाद, निर्प्रकृतिवाद एवं संवेगवाद का खण्डन किया है। वह नैतिक भाषा को वर्णनात्मक नही मानता। नैतिक भाषा किसी प्राकृतिक या निर्प्रकृतिवाद तथ्य का कथन या वर्णन नहीं करती। नैतिक भाषा परामर्शात्मक या मूल्यात्मक भाषा है। वर्णनात्मक भाषा द्वारा मूल्यात्मक निर्णय संभव नहीं है। किसी तथ्य का वर्णन करना उसका मूल्यांकन करना नहीं है, न मूल्यांकन करना वर्णन करना है। यदि नैतिक भाषा वर्णनात्मक है तो उसके द्वारा अपना या दूसरों का मार्ग दर्शन करना, परामर्श देना, या मूल्यांकन करना संभव नहीं है। हेअर का यह भी मत है कि वर्णनात्मक कथनों से मूल्यात्मक कथनों का निगमन नहीं हो सकता है। 'है' एवं 'होना चाहिए' के विवाद में हेअर इस मत का सबसे प्रबल समर्थक है। वह लिखता है :

"प्रकृतिवादी सिद्धान्तों का दोष है कि ये तथ्यात्मक कथनों से मूल्यात्मक निर्णयों का निगमन करके इन निर्णयों में विद्यमान परामर्शात्मक अथवा प्रशंसात्मक अंश की उपेक्षा करते हैं। यदि मेरा मत उचित है तो मेरा सिद्धान्त-जो इस तत्त्व को संरक्षित रखता है - प्रकृतिवादी नहीं है।

.....भाषा में मूल्यात्मक शब्दों का एक विशेष कार्य है और वह है प्रशंसा करना। अतः यह स्पष्ट है कि इन शब्दों की ऐसे शब्दों द्वारा परिभाषा नही हो सकती जिनका यह कार्य नही है; क्योंकि यदि ऐसा किया जाता है। तो हम इस कार्य को करने के साधन से वंचित हो जाते हैं।''[1]

इसी प्रकार संवेगात्मक के विरुद्ध हेअर की अनेकों आपत्तियाँ हैं। (1) प्रथम हेअर का विचार है कि जिस सत्यापन सिद्धान्त के आधार पर संवेगवादी नैतिक भाषा को निरर्थक कहते हैं वह एकांगी एवं संकुचित मत है। यह सिद्धान्त तथ्यात्मक कथनों के लिये उपयोगी हो सकता है, किन्तु नैतिक निर्णय तथ्यात्मक कथन नहीं है। उन पर इनका प्रयोग पूर्णतः अनुचित है। ''यदि सार्थकता की इस कसौटी को, जो तथ्यात्मक कथनों के लिए उपयोगी है, बिना सोचे समझे ऐसे कथनों पर लागू किया जाता है जिनका उद्देश्य तथ्यों को व्यक्त करना नहीं है तो कठिनाई उत्पन्न होगी। आज्ञात्मक वाक्य इस निकष को पूरा नहीं करते और यह संभव है कि नैतिक निर्णयों को व्यक्त करने वाले वाक्य भी इस शर्त का पालन नहीं करते; किन्तु इससे केवल यही सिद्ध होता है कि ये वाक्य इस निकष द्वारा स्थापित अर्थ में कथन नहीं है; और यह अर्थ सामान्य प्रयोग में निहित अर्थ की अपेक्षा अधिक संकुचित हो सकता है। इसका अर्थ नहीं है कि ये वाक्य निरर्थक हैं अथवा इनके प्रयोग के लिए कोई तार्किक नियम प्रस्तुत नहीं किए जा सकते।''[2]

(2) हेअर का दूसरा तर्क है कि संवेगवाद के अनुसार नैतिक निर्णयों का कार्य वक्ता के संवेगों को व्यक्त करना, दूसरों में इन संवेगों को जाग्रत करना तथा कुछ करने या न करने के लिए प्रेरित करना है। हेअर ने इस मत का खण्डन किया है। उसके अनुसार कोई बात कहने और उसे स्वीकार करवाने में तथा भावों को व्यक्त करने एवं तद्नुसार दूसरों को प्रेरित या प्रभावित करने में अन्तर है। जब मैं किसी व्यक्ति से कोई तथ्यात्मक कथन कहता हूँ तो मेरा उद्देश्य केवल सूचना देना है, इस सूचना को सत्य मानने के लिए उसे बाध्य करना नहीं, इसी प्रकार अपनी भावनाओं को व्यक्त करना एवं इस भावना से दूसरे को प्रभावित करना दो

भिन्न-भिन्न कार्य हैं। इसमें भेद न करने के कारण ही तार्किक भाववादियों ने नैतिक निर्णयों को मात्र सवेगात्मक माना है।[3]

(3) हेअर के अनुसार संवेगवादी सिद्धान्त नैतिक निर्णयो को अबौद्धिक कथन बना देता है। परिणाम स्वरूप इनमें तथा प्रचारात्मक कथनों में कोई अन्तर नहीं रह जाता। संवेगवाद के अनुसार नैतिक निर्णयों का मूल्यांकन केवल इस आधार पर हो सकता है कि ये कथन प्रभाव उत्पन्न करने में सफल हैं अथवा नहीं। किन्तु हेअर के अनुसार नैतिक कथनों की सार्थकता इनके प्रभाव में निहित नहीं है। इनकी सार्थकता उन नियमों पर निर्भर है जिनके अनुसार हम इनका प्रयोग करते हैं। अर्थात् ये निर्णय बौद्धित कथन हैं जिनका उद्‌देश्य यह बताना है कि हमें क्या करना चाहिए, क्या नही। इनके लिए हम उपयुक्त प्रमाणों की मांग कर सकते हैं।

(4) वास्तव में संवेगवाद में लोक्युशन, इलोक्युशन एवं पर्लोक्युशन में अन्तर न करते हुए इन्हें परस्पर मिला दिया गया है। स्टीवेंसन मनोवैज्ञानिक अर्थ सिद्धान्त को स्वीकार करता है। उसके अनुसार किसी शब्द का अर्थ वह प्रवृत्तिमूलक गुण है जिसके द्वारा शब्द को सुनकर श्रोता के मन में कुछ मानसिक क्रियाये उत्पन्न होती हैं। अर्थात् स्टीवेंसन शब्दार्थ का सम्बन्ध इसके प्रभाव से मानना है। आस्टिन के अनुसार किसी शब्द या वाक्य का श्रोता पर पड़ने वाला प्रभाव उसक़ा पर्लोक्युशनरी कार्य है। इस प्रभाव को किसी रूप में अर्थ नहीं माना जा सकता। आस्टिन के अनुसार दो अन्य वाक् कार्य हैं–लोक्युशनरी कार्य एवं इलोक्युशनरी कार्य सामान्यतः जिसे अर्थ कहा जाता है उसका सम्बन्ध लोक्युशन से है। लोक्युशन का अर्थ है तात्पर्य एवं निर्देश युक्त वाक्य का कथन। सामान्यतः तात्पर्य एवं निर्देश को ही अर्थ माना जाता है। किन्तु पूरे वाक्य का व्यापक अर्थ में क्या अर्थ है इसका स्पष्टीकरण इलोक्युशन से होता है। इलोक्युशन से ज्ञात होता है कि अर्थयुक्त वाक्य का प्रयोग क्या करने के लिए किया जा रहा हैः वर्णन के लिए या परामर्श के लिए या अन्य वाक्‌कार्य के लिए। इस रूप में भी अर्थ का तादात्म्य प्रभाव से नहीं हो सकता; अर्थ का निर्धारण भाषाई नियमों, प्रयोग की रुढ़ियों एवं वक्ता के प्रयोजन से होता है। संवेगवाद में इन महत्वपूर्ण तथ्यों की उपेक्षा हुई है।

(5) हेअर के अनुसार संवेगवाद में कारण एवं हेतु या तर्क में भी अन्तर नहीं किया गया है। स्टीवेंसन का मत है कि नैतिक युक्तियाँ निर्बौद्धिक या मनोवैज्ञानिक होती है। इनका उद्देश्य श्रोता को प्रभावित करना होता है। अर्थात् नैतिक युक्तियाँ श्रोता की अभिवृत्तियों को प्रभावित करने के कारण हैं। अपने लेख *द इमोटिव मीनिंग आफ एथिकल टर्म्स*[4] में वह कहता है : "यह पूंछना कि क्या कोई वस्तु शुभ (अच्छी) है प्रभाव की मांग करना है।" किन्तु जैसा हडसन[5] कहता है कि हम टेलीविजन या पत्रिकाओं में भी प्रचारों को इसलिए नहीं देखते कि हम उनसे प्रभावित होना चाहते हैं। हम यह जानना चाहते हैं कि हमें क्या खरीदना चाहिए। हम किसी से नैतिक परामर्श लेते समय उस व्यक्ति से कारणात्मक प्रभाव की इच्छा नहीं करते। वास्तव में नैतिक एवं निनैतिक दोनों सन्दर्भो में हम चुनाव करने, निर्णय करने या कुछ करने अथवा न करने के लिए अच्छे तर्कों की खोज करते हैं। इसी प्रकार कारण, कारण होता है, वह परिणाम उत्पन्न करने में सफल या असफल होता है। किन्तु कारण अच्छा या बुरा नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि नैतिक तर्कों की व्याख्या मनोवैज्ञानिक विधियों द्वारा नही हो सकती। इन्हीं कारणों से हेअर ने संवेगवाद का दृढ़तापूर्वक खण्डन किया है।

नैतिक भाषा का स्वरूप

हेअर मै नैतिक भाषा को परामर्शात्मक भाषा माना है। इसके लिए हेअर ने अर्थ के निर्देश, सत्यापन एवं मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के स्थान पर विट्गेंस्टाइन एवं आस्टिन के प्रयोग-सिद्धान्त को स्वीकार किया है। किसी शब्द का अर्थ उसके प्रयोग द्वारा ही निश्चित होता है। वह लिखता है ; "जहाँ तक शब्दों के अर्थ का प्रश्न है किसी भी प्रकार का अर्थ कुछ नियमों के अनुसार किसी वाक्य के प्रयोग में ही निहित रहता है। यह अर्थ किस प्रकार का है इसका निर्णय इसी आधार पर किया जा सकता है कि इसके प्रयोग के नियम किस प्रकार के हैं।'[6] मुख्य प्रश्न यह है कि नैतिक भाषा का कार्य क्या है? किसी तथ्य का वर्णन करना? संवेगों को व्यक्त/जाग्रत करना? या कुछ अन्य? हेअर का विचार है कि यदि हम नैतिक कथनों पर ध्यान दें तो स्पष्ट हो जाता है कि नैतिक निर्णय परामर्शात्मक या मार्गदर्शक होते हैं। ऐसे

परामर्शात्मक कथन अन्य परामर्शात्मक कथनों से भी भिन्न होते है क्योंकि ये सार्वभौमिक होते हैं। परामर्शात्मक एवं सार्वभौमिक होने के कारण नैतिक निर्णयों के लिए वस्तुनिष्ठ, बौद्धिक तर्क देना संभव है।

इस प्रकार हेअर मानता है कि नैतिक भाषा परामर्शात्मक भाषा का प्रकार है।[7] परामर्शात्मक भाषा का क्षेत्र बहुत व्यापक है। इसके अन्तर्गत आज्ञात्मक वाक्य, निर्नैतिक मूल्यात्मक वाक्य एवं नैतिक निर्णय सम्मिलित है। आज्ञात्मक तत्व इन सभी प्रकारों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सम्बन्धित है। यही आज्ञात्मक तत्व परामर्शात्मक भाषा को परामर्शात्मक बनाता है। नैतिक भाषा को परामर्शात्मक कहने से हेअर का आशय है कि नैतिक निर्णय एक प्रकार का मूल्यात्मक निर्णय है और इससे कुछ करने या न करने का आदेश आपादित होता है। हेअर के लिए यह विशेषता परिभाषिक है :

''मै यह कहना चाहता हूँ कि कोई व्यक्ति ''मुझे क करना चाहिए' निर्णय का प्रयोग मूल्यात्मक निर्णय के रूप में कर रहा है या नहीं की कसौटी यह है कि 'वह इसे समझ रहा है या नहीं कि यदि वह इस निर्णय को स्वीकार करता है तो उसे इस आदेश को भी स्वीकार करना पड़ेगा 'मैं क करूं'?[8]

वह मानता है कि उपरोक्त अर्थ में नैतिक निर्णय मूल्यात्मक निर्णय है। इस प्रकार उसके अनुसार नैतिक भाषा का अध्ययन आदेशों का अध्ययन है। आदेशों का स्वरूप क्या है? स्टीवेंसन के अनुसार आदेशात्मक तत्त्व संवेगात्मक अर्थ है जो श्रोता की अभिवृत्ति एवं कार्यों को प्रेरित करता है। हेअर के अनुसार संवेगात्मक नहीं हैं। इनका प्रयोग प्रेरक के रूप में नहीं बल्कि परामर्श के रूप में होता है। परामर्श एवं प्रवर्तन दो भिन्न-भिन्न क्रियायें हैं। संवेगात्मक अर्थ एवं प्रवर्तन के स्थान पर हेअर परामर्शात्मक एवं प्रशंसात्मक पक्ष को स्वीकार करता है। नैतिक निर्णयों का प्रयोग व्यक्तियों को चुनाव करने या कुछ करने का परामर्श देने के लिए किया जाता है, प्रवर्तित करने के लिए नहीं। वास्तव में कुछ करने के लिए कहना वाक्कार्य है, किन्तु प्रवर्तित करना वाक् कार्य नहीं है। इसे भाषाई विधि से स्पष्ट किया जा सकता है। ''मै

तुम्हें वताता हूँ- - - - - - ", "मै कहता हूँ- - - - " का प्रयोग किया जाता है, किन्तु यह नहीं कहा जाता "मै प्रवर्तित करता हूँ- - - - - ", " मै प्रेरित करता हूँ- - - - - " परामर्शात्मक कार्य में अर्थ एवं निर्देश होता है, अर्थात् इसके प्रयोग निकष या नियम होते हैं। किन्तु प्रवर्तन का कोई निकष या नियम नहीं है।

हेअर मानता है कि आदेशात्मक कथन कुछ अर्थों में तथ्यात्मक कथनों के समान होते हैं। "दोनो का प्रयोग किसी विषय में बात करने के लिए किया जाता है, किन्तु इनका प्रयोग भिन्न भिन्न प्रकार से बात करने के लिए होता है। दो वाक्य 'तुम दरवाजा बन्द करने जा रहे हो' एवं 'दरवाजा बन्द करो' तुम्हारे द्वारा निकट भविष्य में दरवाजा बन्द करने से सम्बन्धित है, किन्तु उनके कहने की शैली में अन्तर है। वर्णनात्मक वाक्य का प्रयोग यह बताने के लिए किया जाता है कि वस्तुस्थिति क्या है; किन्तु आदेशात्मक वाक्य का प्रयोग वस्तुस्थिति उत्पन्न करने के लिए होता है।"[9]

इन वाक्यों पर ध्यान दीजिए:

1 तुम दरवाजा बन्द करने जा रहे हो।

2 दरवाजा बन्द करो।

हेअर के अनुसार दोनों में "विषय" एवं "क्रियार्थ" (फ्रेस्टिक एवं न्युस्टिक) के तत्व हैं। एवं दोनो का विषय एक है किन्तु क्रियार्थ में अन्तर है। फ्रेस्टिक या विषय का तात्पर्य है कि वाक्य का विषय क्या है। यहॉ दोनो वाक्यों का विषय समान है, अर्थात

3. निकट भविष्य में तुम्हारे द्वारा दरवाजा बन्द किया जाना। किन्तु प्रथम एवं द्वितीय वाक्य द्वारा तृतीय वाक्य से कुछ अधिक कहा जा रहा है। तीसरे वाक्य से यह ज्ञात नहीं होता कि भविष्य में तुम्हारे द्वारा दरवाजा वन्द किये जाने की स्थिति होगी या तुम्हें ऐसी स्थिति उत्पन्न करने के लिए कहा गया है।[10] इसके लिए क्रियार्थ या न्युस्टिक्स की आवश्कता है। न्युस्टिक्स द्वारा इस बात का संकेत मिलता है कि फ्रैस्टिक्स द्वारा इंगित विषय के सम्बन्ध में क्या कहा जा रहा है। प्रथम वाक्य में न्युस्टिक्स से ज्ञात होता है कि तथ्यात्मक कथन किया गया है,

द्वितीय वाक्य से ज्ञात होता है कि आदेश दिया गया है। हेअर का विचार है कि 'हॉ' और 'कृपया' से इस उद्देश्य को स्पष्ट किया जा सकता है। अब 1 और 2 को इस प्रकार लिख सकते हैं:

4. तुम्हारे द्वारा निकट भविष्य में दरवाजा बन्द किया जाना, हॉ।

5. तुम्हारे द्वारा निकट भविष्य में दरवाजा बन्द किया जाना, कृपया।

इस सम्बन्ध में कर्नर[11] की व्याख्या महत्वपूर्ण है। वह मानता है कि अपने आप में फ्रैस्टिक्स एवं न्युस्टिक्स का कोई अर्थ नहीं है। सम्पूर्ण वाक्कार्य का ही अर्थ हो सकता। इस अर्थ में अर्थ एवं इलोक्युशनरी शक्ति एक है। किन्तु दूसरे स्तर पर हम तीन अर्थों की बात कर सकते हैं-फ्रैस्टिक्स का अर्थ, न्युस्टिक्स का अर्थ एवं सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ। कर्नर के अनुसार नैतिक निर्णयों में विशिष्ट न्युस्टिक्स होता है, अतः हेअर को दो प्रकार का अर्थ मानने की आवश्यकता नहीं थी। दो प्रकार का अर्थ मानने से ही कठिनाई उत्पन्न होती है जैसा स्टीवेंसन के सिद्धान्त में भी थी। कर्नर का मत है कि संकुचत अर्थ में अर्थ केवल तात्पर्य एवं निर्देश है। इस अर्थ में फ्रैस्टिक्स सार्थक है, किन्तु वाक्य का पूरा अर्थ न्युस्टिक्स से स्पष्ट होता है। इस अर्थ में अर्थ का तादात्म्य इलोक्युशनरी शक्ति से किया जा सकता है। हेअर सामान्यतः इसी व्याख्या को स्वीकार करता है।

हेअर का मत है कि मूल्यात्मक निर्णयों, विशेषताः नैतिक निर्णयों से आदेशों का निगमन अनिवार्य रूप से होता है। इसी आदेशात्मक तत्व के कारण नैतिक निर्णयः अनिवार्यतः परामर्शात्मक होते हैं। किन्तु आदेशों एवं नैतिक निर्णयों में असमानता भी है। आदेशों के लिए औचित्य बताना आवश्यक नहीं है, एवं आदेशों के लिए सार्वभौमिक होना भी आवश्यक नहीं है। किन्तु नैतिक निर्णय के लिए औचित्य बताना अनिवार्य है, एवं नैतिक निर्णय अनिवार्यतः सार्वभौमिक है। *द लैंग्वेज आफ मॉरल्स* में परामर्शात्मकता की व्याख्या मूल रूप से आदेशात्मक तत्व के आधार पर की गई है,किन्तु *फ्रीडम ऐण्ड रीजन* तथा अन्य लेखों में हेअर ने सार्वभौमिकता पर विशेष बल दिया है। वास्तव में उसका विचार है कि फ्रैस्टिक्स तथ्यात्मक होता है और वर्णन

एव मूल्यात्मक निर्णया म फ्रेस्टिक्स समान है। अतः मूल्यात्मक निर्णया को सार्वभौमिक रूप देने में कोई कठिनाई नहीं है। फ्रेस्टिक्स के ही आधार पर नैतिक निर्णयों में वे तार्किक विशेषतायें होती हैं जो तथ्यात्मक निर्णयों में है। सार्वभौमिकता एवं तार्किक गुणों के कारण ही नैतिक तर्कना संभव है।

नैतिक भाषा के परामर्शात्मक होने के कारण नैतिक निर्णयों या सिद्धान्तों का माननीय कर्म से तार्किक सम्बन्ध होता है। जब कोई व्यक्तिवास्तव में किसी नैतिक निर्णय को स्वीकार करता है तो वह उस निर्णय के अनुरूप आचरण करने के लिए बाध्य है। यदि कोई व्यक्तिकहता है कि वचन का पालन करना चाहिए तो यदि उसने कोई वादा किया है तो समय आने पर उसे अपने वचन का पालन अवश्य करना चाहिए। वचन का पालन करना चाहिए एवं समय पर वचन पालन करने में तार्किक आपादन का सम्बन्ध है। वह कहता है:

"कर्मों के सन्दर्भ में हमारा मार्गदर्शन करने के लिए नैतिक निर्णय के लिए आवश्यक है कि यदि कोई व्यक्ति इसे स्वीकार करता है तो वह इससे संलग्न आदेशात्मक वाक्य को अवश्य स्वीकार करे। दूसरे शब्दों में यदि कोई व्यक्तिआदेशात्मक वाक्य को अस्वीकार करता है यह इसका प्रमाण है कि वह नैतिक निर्णय का समर्थन नही करता। यदि वह इसका समर्थन करने की बात करता है किन्तु आदेश को स्वीकार नही करता तो उसने नैतिक निर्णय का अर्थ नहीं समझा है।"[12]

वास्तव में हेअर की मान्यता है कि शब्दों के अर्थ से ही यह परिणाम सिद्ध होता है। जैसे यदि कोई व्यक्ति'यदि अ तो ब' को स्वीकार करने की बात करता है किन्तु वह अ के प्रति सहमति व्यक्तकरता है, पर ब के प्रति नहीं तो या तो उसने इस वाक्य को गलत समझा है या वह उसे स्वीकार नही करता। इसी प्रकार का सम्बन्ध नैतिक निर्णय एवं तदनुसार आचरण में है। इस प्रकार हेअर नैतिक भाषा एवं कर्मों में अनिवार्य समवन्ध मानता है। किन्तु यहाँ कुछ समस्यायें उत्पन्न होती है।

1. हेअर के विरोध में एक आपत्ति यह है कि बहुत से व्यक्तिनैतिक निर्णयों को मानते हुए भी इनके अनुरूप आचरण नही करते। इन उदाहरणों से सिद्ध होता है कि नैतिक निर्णयों के प्रतिकूल आचरण तार्किक दृष्टि से असंभव नही है। अर्थात् नैतिक भाषा एवं कर्म में अनिवार्य सम्बन्ध नही है। हेअर ने स्वयं इस आक्षेप का उत्तर दिया है। वह मानता है कि अनेक व्यक्ति अपने सिद्धान्त के विपरीत आचरण करते हैं। किन्तु हेअर के अनुसार इससे परामर्शवाद अप्रमाणित नहीं होता। नैतिक निर्णय के अनुसार आचरण करने के लिए तीन शर्ते आवश्यक है: (1)नियम के प्रति ईमानदारी या निष्ठा; (2) मानसिक क्षमता एवं (3) शारीरिक क्षमता। यदि कोई व्यक्ति अपने नियम के प्रति निष्ठावान है एवं मानसिक तथा शारीरिक रूप से सक्षम है तो वह इस निर्णय के अनुरूप कर्म करने के लिए बाध्य है। यदि वह ऐसा नही करता तो यह उसकी नैतिक दुर्बलता है। वह कहता है"यदि नैतिक निर्णय परामर्शात्मक न होते तो नैतिक दुर्बलता की समस्या न होती, किन्तु यह समस्या है, अतः ये निर्णय परामर्शात्मक है।"[13]

ए. सी. मैकिन्टायर का मत है कि नैतिक नियमों को निष्ठा से स्वीकारते हुए भी यह संभव है कि कोई व्यक्तिउनके अनुसार आचरण न करे। वह कहता है: "मनुष्य किसी नैतिक निर्णय के प्रति अपनी प्रतिवद्धता व्यक्त कर सकता है, किन्तु यह संभव है कि वह इसका प्रयोग न करे"[14] यहाँ मैकिन्टायर नैतिक दुर्बलता का संकेत नहीं कर रहा है। वह मानता है कि अनेकों मनुष्य नैतिक दुर्बलता के कारण स्वीकृत नियमों के अनुसार कर्म नहीं करते और इस आधार पर परामर्शवाद का खण्डन नही होता। उसका विचार है कि शारीरिक एवं मानसिक क्षमता होते हुए एवं ईमानदारी के साथ किसी नैतिक निर्णय का समर्थन करने पर भी यह संभव है कि मनुष्य व्यवहार में इसका पालन न करे। किन्तु यह आलोचना तर्क संगत नहीं है। किसी नैतिक निर्णय को स्वीकार करने का अर्थ ही है कि यदि अवसर है तो मनुष्य उसके अनुसार आचरण करे। यदि किसी कारण वह ऐसा नहीं करता जव कि वह ईमानदारी से इसे स्वीकार करता है एवं ऐसा करने में मानसिक एवं शारीरिक रुप से सक्षम है तो यही कहना उपयुक्त है कि वह इस निर्णय को स्वीकार नहीं करता।

जी.जे. वार्नाक[15] के अनुसार सम्पूर्ण नैतिक भाषा को परामर्शात्मक मानना उचित नहीं है। कुछ प्रसंगों में नैतिक भाषा परामर्शात्मक होती है, किन्तु केवल इन्हीं प्रसंगों तक नैतिक भाषा को सीमित कर देना अथवा इन्हीं के आधार पर सम्पूर्ण नैतिक भाषा की व्याख्या करना गलत है। वास्तव में नैतिक भाषा का प्रयोग विभिन्न प्रसंगों में विविध कार्य करने के लिए किया जाता है। वह कहता है:"- - - - - नैतिक भाषा-अर्थात् वह भाषा जिसमें नैतिक शब्दों का प्रयोग होता है-इस दृष्टि से सामान्य भाषा की अपेक्षा कम व्यापक अथवा विविधार्थक नहीं है। कम से कम ऐसे दर्जनों कार्य हैं जो नैतिक शब्दों का प्रयोग करने वाले इन शब्दों द्वारा सम्पादित करते हैं।"[16] वार्नाक ने नैतिक भाषा के कार्यों में उपदेश देना, आग्रह करना, आदेश देना, निन्दा करना, दुख व्यक्तकरना, निश्चय करना, अपराध स्वीकार करना, उत्तर दायित्व लेना आदि को भी सम्मिलित किया है।[17] किन्तु हेअर का मत है कि परामर्श का अर्थ बहुत व्यापक है। वार्नाक ने जिन कार्यों को परामर्श से भिन्न माना है हेअर उन्हें परामर्शात्मक कार्य में सम्मिलित करता है। वह मानता है कि इन सभी कार्यों में नैतिक भाषा का आचरण से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः ये सभी कार्य परामर्शात्मक कार्य की उपजातियाँ हैं।[18] पर यह विवाद का विषय है कि इन सभी कार्यों में वास्तव में आदेश का तत्व निहित है।

वार्नाक की एक अन्य आपत्ति यह है कि नैतिक निर्णयों एवं आचरण में वैसा सम्बन्ध नहीं है जैसा हेअर मानता है। वार्नाक मानता है कि नैतिक निर्णयों एवं आचरण में घनिष्ट सम्बन्ध है किन्तु उसका प्रश्न है कि क्या नैतिक निर्णय एवं कर्म के सम्बन्ध की व्याख्या हेअर के परामर्शवाद के आधार पर ही संभव है? वार्नाक के अनुसार हेअर का यही मत है और वह इसका खण्डन करता है। वह कहता है:

"इस तथ्य से, यदि यह तथ्य है, कि किसी मनुष्य के नैतिक सिद्धान्त सर्वाधिक स्पष्ट रूप से उसके व्यवहार में व्यक्त होते हैं, यह किसी रूप में सिद्ध नहीं होता कि इन सिद्धान्तों की अवधारणा परामर्शों के रूप में या परामर्शों को अनुलग्नित करने के रूप में की जा सकती है। उनकी अवधारण समान रूप से रूचि की अभिव्यक्ति, अनुमोदन की अभिव्यक्ति के रूप में या आवश्यकताओं, उद्देश्यों के कथन या मूल्यों एवं आदर्शों से सम्बन्धित विचारों या निर्णयों, या हित विषयक विश्वासों या अनेकों अन्य प्रकारों से हो सकती है।"[19]

हेअर ने इसका खण्डन किया है। वह यह नही कहता कि केवल परामर्शात्मक के द्वारा ही यह व्याख्या संभव है। उसका विचार है कि यदि नैतिक निर्णय परामर्शात्मक है तो इनका मानवीय आचरण से घनिष्ठ समबन्ध है।[20] यह सत्य है कि इच्छा, पसन्द, आवश्यकता रूचि आदि का सम्बन्ध भी व्यवहार से है। हेअर का यह दावा नहीं है कि केवल परामर्श के माध्यम से ही कर्म से सम्बन्ध होता है।

नैतिक शब्दों का विवेचन

नैतिक तर्कना के पूर्व कुछ विशेष नैतिक शब्दों पर विचार करना उपयोगी है। यद्यपि नैतिक भाषा के विवेचन से यह कार्य पहले ही हो चुका है, किन्तु कुछ महत्वपूर्ण पक्षों का स्पष्टीकरण आवश्यकता है। हेअर ने परामर्शवाद के आधार पर ही 'शुभ' '(अच्छा)', 'उचित', 'चाहिए' आदि की व्याख्या किया है। उसका विचार है कि इन शब्दों का प्रयोग नैतिक एवं निर्नैतिक दोनों प्रसंगों में किया जाता है तथा दोनों प्रसंगों में इन शब्दों का अर्थ समान है। दोनो सन्दर्भो में इनका मुख्य अर्थ प्रशंसात्मक या मूल्यात्मक एवं गौण अर्थ वर्णनात्मक होता है। प्रथम अर्थ में ये शब्द वस्तु, व्यक्ति या कर्म का मूल्यांकन एवं द्वितीय अर्थ में इनका वर्णन करते हैं। वह कहता है: "मै सर्वाधिक प्रचलित दो नैतिक शब्दों 'शुभ' तथा 'चाहिए' पर क्रमशः विचार करूँगा। पहले मैं इन शब्दों के निर्नैतिक प्रयोगों का और इसके पश्चात् इनके नैतिक प्रयोगों का विवेचन करूँगा। प्रत्येक स्थिति में मै यह दिखाने की आशा करता हूँ कि इन प्रयोगों में अनेकों समान विशेषताये हैं।"[21]

हेअर कहता है कि 'शुभ' या 'अच्छा' का प्रयोग हम सामान्यतः प्रशंसात्मक अर्थ में करते हैं। जब हम किसी वस्तु को अच्छी वस्तु या किसी मनुष्य को अच्छा मनुष्य कहते हैं तो हमारा मुख्य उद्देश्य उस वस्तु या मनुष्य की प्रशंसा करना है, उसका मात्र वर्णन करना नहीं। सामान्यतः हम जिस वस्तु को प्रशंसनीय समझते हैं उसे ही अच्छी कहते हैं। जिस वस्तु को हम प्रशंसनीय नहीं समझते उसे अच्छी नहीं कहते।

इसी आधार पर हेअर ने प्रकृतिवादी सिद्धान्तों का खण्डन किया है। उसका विचार है कि यदि इस सिद्धान्त को मान लिया जाय तो 'शुभ', 'उचित' आदि शब्दो द्वारा वह कार्य नही किया जा सकता जो इनका मुख्य कार्य है। अर्थात् यदि ये शब्द वर्णनात्मक हैं तो इनके द्वारा वस्तु या कर्म का मूल्यांकन करने का कार्य नहीं हो सकता। हेअर के अनुसार यह कठिनाई सभी मूल्यात्मक कथनों के सन्दर्भ में आती है चाहे इनका प्रयोग नैतिक अर्थ में हो या अन्य सन्दर्भ में। प्रकृतिवादी सिद्धान्त मूल्यात्मक एवं वर्णनात्मक कथनों का तार्किक रूप से समान मानकर मूल्यात्मक निष्कर्षों का निगमन तथ्यात्मक आधार वाक्यों से करते हैं। किन्तु इन दोनों में इतना बड़ा अन्तर है कि तथ्य से मूल्य का निगमन नहीं हो सकता । पर हेअर के अनुसार इन शब्दों का वर्णनात्मक अर्थ भी होता है। 'शुभ' का वर्णनात्मक अर्थ वस्तु के वे गुण हैं जिनके कारण वस्तु को अच्छी कहा जाता है। जब किसी वस्तु की प्रशंसा की जाती है तो इस प्रशंसा का आधार उस वस्तु के कुछ विशेष गुण होते हैं। 'अच्छा' शब्द द्वारा इन्हीं गुणों का निर्देश या वर्णन किया जाता है। इस वर्णनात्मक अर्थ के अभाव में हम किसी वस्तु को अच्छा नहीं कह सकते। वस्तु का शुभत्व इन्हीं गुणों पर निर्भर होता है। हेअर भी मूर के समान शुभत्व को आश्रित या परिणामी मानता है।

यह स्पष्ट हे कि'अच्छा' शब्द का प्रयोग विभिन्न वस्तुओं के लिए किया जाता है। अतः 'अच्छा' का वर्णनात्मक अर्थ विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के साथ परिवर्तित होता रहता है। जिन गुणों के कारण कार को अच्छा कहा जाता है वे ऐसे गुण नहीं हैं जिनके कारण कलम को अच्छा कहा जाता है। जिन गुणों के आधार पर मनुष्य को अच्छा कहा जाता है वे उन गुणों से पृथक् हैं जिनके कारण किसी चित्र को अच्छा कहा जाता है। अतः 'अच्छा' के वर्णनात्मक अर्थ में सन्दर्भ के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। किन्तु इसके प्रशंसात्मक अर्थ में परिवर्तन नही होता। इसीलिए हेअर वर्णनात्मक अर्थ को गौण एवं प्रशंसात्मक अर्थ को मुख्य अर्थ मानता है। इसका एक कारण और है। संभवतः हम आरम्भ में इसका प्रशंसात्मक अर्थ ही सीखते है, बाद में वर्णनात्मक अर्थ। किन्तु वर्णनात्मक अर्थ को गौण मानने से उसका महत्व कम नहीं

होता। वर्णनात्मक अर्थ पर ही मूल्यात्मक अर्थ आश्रित होता है। उदाहरण के लिए जब किसी मनुष्य को अच्छा मनुष्य कहा जाता है तो इससे उस मनुष्य के कुछ गुणों जैसे, सज्ञनता, स्नेह, ईमानदारी, परोपकार आदि का बोध होता है। दूसरे शब्दों में 'अच्छा' शब्द से हमे वस्तु से सम्बन्धित तथ्यों का भी बोध होता है। इन्हीं गुणों के कारण यह असंभव है कि दो वस्तुओं क एवं ख में समान गुण होते हुए भी एक को अच्छा कहा जाय, दूसरी को नहीं। यदि इनमें एक को अच्छी और दूसरे को बुरी कहा जाता है तो हमारे कथन में व्याघात उत्पन्न हो जाता है। हेअर के अनुसार वस्तुओं का वर्णनात्मक अर्थ ही हमारे कथनों को वस्तुनिष्ठ एवं सार्वभौमिक बनाता है। यदि ऐसा न हो तो मूल्यात्मक निर्णय पूर्णतः संवेगात्मक हो जायेंगे। वस्तुनिष्ठता एवं सार्वभौमिकता पर ही मूल्यात्मक तर्कना निर्भर है।

हेअर के अनुसार 'अच्छा' का प्रशंसात्मक अर्थ ही चुनाव में हमारा या दूसरों का मार्ग दर्शन करता है। इसी अर्थ के कारण उपयुक्त अवसर आने पर हम चुनाव करने में सफल होते है। चुनाव करना प्रशंसा या निन्दा करना के अर्थ में ही निहित होता है। इनका उद्देश्य उपयुक्त अवसर आने पर अपना एवं दूसरों का मार्गदर्शन ही होता है। हेअर के अनुसार यह बात केवल वर्तमान और भविष्य के लिए ही नहीं, अपितु भूतकाल से सम्बन्धित नैतिक निर्णयों के लिए भी सत्य है। जब भूतकाल में किए गये अनुचित कर्म के लिए किसी व्यक्ति की निन्दा की जाती है तो इसका मुख्य उद्देश्य होता है कि अन्य व्यक्ति, मैं स्वयं या अन्य कोई व्यक्ति भविष्य में वह कर्म न करे। वह कहता है :

"मैने कहा है कि 'शुभ' शब्द का मुख्य कार्य प्रशंसा करना है, इसलिए हमें मालूम करना चाहिए कि प्रशंसा करने का अर्थ क्या है। जब हम किसी वस्तु की प्रशंसा या निन्दा करते हैं तो हम सदैव कम से कम अप्रत्यक्ष रूप से वर्तमान अथवा भावी विकल्पों के रूप में स्वयं अपना या दूसरों का मार्गदर्शन करने के लिए ही ऐसा करते हैं।"[22]

हेअर का विचार है कि 'शुभ' की उपरोक्त विशेषताएं नैतिक एवं निर्नैतिक दोनो सन्दर्भों के लिए सत्य है। अब यह बताना आवश्यक है कि नैतिक सन्दर्भ में 'शुभ' की क्या विशेषता

है। उसका मत है कि जब शुभ या अच्छा का प्रयोग मनुष्य तथा उसकी प्रेरणाओं के लिए एवं उसके कर्मों तथा उद्देश्यों के लिए किया जाता है तभी इसके अर्थ को नैतिक अर्थ माना जाता है। जब हम कहते हैं कि "वह व्यक्ति अच्छा मनुष्य है" या "उस व्यक्तिकी सहायता करके उसने अच्छा कर्म किया" तो 'अच्छा' का प्रयोग नैतिक अर्थ में किया गया है। इस प्रकार 'शुभ' का नैतिक अर्थ में प्रयोग मनुष्य, उसकी प्रेरणाओं, चरित्र एवं आचरण के सन्दर्भ में ही होता है।[23]

अब हम पूँछ सकते हैं कि क्या निर्नैतिक एवं नैतिक सन्दर्भों में इन शब्दों के प्रयोग से सम्बन्धित तार्किक नियम भिन्न भिन्न होते हैं? हेअर का मत है कि दोनो सन्दर्भों में मूल्यात्मक निर्णयों के तार्किक नियम समान होते हैं। दोनो सन्दर्भों में मूल्यात्मक निर्णयों के वर्णनात्मक अर्थ गौण होता है। इसी प्रकार नैतिक सन्दर्भों में भी निर्नैतिक सन्दर्भों के समान वर्णनात्मक एवं मूल्यात्मक अर्थ होते हैं एवं दोनों संदर्भों में मूल्यात्मक मुख्य एवं वर्णनात्मक अर्थ प्रसंगानुसार बदलता रहता है। एक व्यक्ति को उसकी ईमानदारी के कारण अच्छा मनुष्य कहा जाता है, दूसरे को सत्यनिष्ठा एवंपरोपकार के कारण। "यह निर्णय कि वह नैतिक दृष्टि से अच्छा मनुष्य है इस निर्णय से तार्किक दृष्टि से स्वतंत्र नहीं है कि उसमें कुछ अन्य गुण हैं जिन्हें हम सद्गुण कह सकते; है और जो उसे अच्छा मनुष्य बताते है। इन दोनों में सम्बन्ध अवश्य है, यद्यपि यह सम्बन्ध अर्थ-साम्य का नही है। नैतिक प्रसंगों में 'शुभ' का वर्णनात्मक तथा मूल्यात्मक दोनों ही अर्थ विद्यमान रहते हैं एवं मूल्यात्मक अर्थ मुख्य होता है। वर्णनात्मक अर्थ को जानना यह जानना है कि वक्ता किन प्रतिमानों के आधार पर निर्णय दे रहा है।"[24]

अब प्रश्न यह है कि नैतिक सन्दर्भों में 'शुभ' को भिन्न क्यों माना जाता है? हेअर के अनुसार इसके दो मुख्य कारण है। प्रथम कारण यह है कि जिन गुणों के कारण मनुष्य को अच्छा कहा जाता है वे गुण निर्जीव वस्तुओं के गुणों से पूर्णतः भिन्न होते हैं। किन्तु हेअर मानता है कि इस अन्तर के कारण नैतिक सन्दर्भों में 'शुभ' का अर्थ परिवर्तित नही होता। यह भी तो सत्य है कि निर्नैतिक सन्दर्भों में भी इसके वर्णनात्मक गुण भिन्न भिन्न होते हैं।

दूसरा कारण यह है कि हम मनुष्य होने के कारण नैतिक शुभत्व को निर्नैतिक शुभत्व से अधिक महत्व देते हैं। हम जितनी गंभीरता से नैतिक शुभत्व को लेते है उतनी गंभीरता से वस्तुओं के शुभत्व को नही। उदाहरण के लिए जब हमें ज्ञात होता है कि कोई मनुष्य अच्छा नही है तो हमे क्षोभ होता है, यदि कोई वस्तु अच्छी नहीं है तो वैसा क्षोभ नहीं होता। पर इस अन्तर के होते हुए भी नैतिक शुभत्व के तार्किक नियम वही हैं जो निर्नैतिक शुभत्व के हैं।

'शुभ' के समान 'उचित', 'चाहिए' आदि में भी वर्णनात्मक एवं मूल्यात्मक अर्थ होते हैं एवं मूल्यात्मक अर्थ मुख्य तथा वर्णनात्मक अर्थ गौण होता है। किन्तु अन्य दृष्टियों से इनमें पर्याप्त अन्तर है। शुभत्व में मात्रा संभव है जो व्याकरण की दृष्टि से भी परिलक्षित होती है। हम अधिक शुभ एवं कम शुभ की बात करते है। किन्तु औचित्य में मात्रा नहीं है। अधिक उचित या कम उचित की वात नहीं की जाती। अतः 'उचित' का अर्थ 'शुभ' के अर्थ से भिन्न है। इसके अतिरिक्त नैतिक सन्दर्भो मे 'शुभ' एवं 'उचित' में स्पष्ट भेद किया जाता है। ऐसे कर्मों को उचित कहा जाता है जो नियमों के अनुरूप होते हैं किन्तु यह संभव है कि उचित कर्म शुभ न हो। कारण यह है कि कर्म का शुभत्व व्यक्ति के हेतु पर निर्भर होता है। इसी प्रकार संभव है है कि कर्म शुभ हो पर उचित न हो। हेअर कहता है:

''यह सामान्य तथ्य है कि किसी कर्म को उचित कहना यह कहना नहीं है कि वह शुभ है, क्योंकि कर्म के शुभ होने के लिए आवश्यक है वह शुभ प्रेरणा द्वारा किया गया हो जब कि उचित होने के लिए केवल इतना आवश्यक है कि वह किसी नियम के अनुरूप हो। उदाहरण के लिए यदि मै इस आशा से दरजी के बिल का भुगतान करता हूँ कि वह इस धन से अत्यधिक शराव पिए तो भी मै विल का भुगतान करके उचित कर्म करता हूँ, पर यह कर्म अच्छा नहीं है क्योंकि मेरा हेतु अच्छा नहीं है।- - - - - यह कहना कि किसी व्यक्ति ने वह कर्म किया जो उचित नहीं था अनिवार्य रूप से उसकी निन्दा करना नहीं है, क्योंकि संभव है कि उसका कर्म उचित न होते हुए भी ऐसी प्रेरणा से किया गया हो जो सर्वोत्तम है, अथवा

वह किसी ऐसे प्रलोभन से ग्रस्त हो जिसका प्रतिरोध करने में सफल न होने पर उसे दोषी न माना जाय''[25]।

ऐसा ही अन्तर 'शुभ' एवं 'चाहिए' में भी है। जैसे शुभ वस्तु के कुछ गुणों पर निर्भर है वैसे ही 'उचित' एवं 'चाहिए' भी वर्णनात्मक रूप से उससे सम्बन्धित कुछ गुणों पर निर्भर है जैसे विशेष नियम, कर्म के परिणाम तथा परिस्थियाँ। यही कारण है कि ''जिस प्रकार चित्र एवं अन्य वस्तुयें अपने शुभत्व के कारण एक दूसरे से भिन्न नहीं हो सकती उसी प्रकार कर्म भी केवल औचित्य के आधार पर एक दूसरे से भिन्न नहीं हो सकते, और यह असंभावना तार्किक असंभावना है जो उस उद्देश्य से उत्पन्न होती है जिसके लिए हम इन शब्दों का प्रयोग करते हैं।''[26] इस प्रकार 'उचित' एवं 'चाहिए' के वर्णनात्मक अर्थ भी सन्दर्भ के अनुसार परिवर्तित होते है। इसीलिए इनके मूल्यात्मक अर्थ भी मुख्य होते है। केवल वर्णनात्मक अर्थ से परामर्श या मार्गदर्शन का कार्य नहीं किया जा सकता। इसीलिए हेअर ने उचित के लिए भी प्रकृतिवाद का खण्डन किया है।[27] नैतिक एवं अन्य सन्दर्भों में भी 'उचित ' एवं 'चाहिए' का प्रयोग मुख्य रूप से मार्ग दर्शन के लिए ही किया जाता है। उदाहरण के लिए (1) तुम्हें विष की दूसरी खुराक देना चाहिए, एवं (2) तुम्हें सत्य बोलना चाहिए दोनों में 'चाहिए' का मार्ग-दर्शन का अर्थ समान है। यद्यपि मनुष्य होने के कारण हमारे लिए नैतिक निर्णय अधिक महत्वपूर्ण हैं। यह आवश्यक नही है कि हम हत्यारे हों, किन्तु मनुष्य न होना संभव नहीं है। पर मार्ग दर्शन सम्बन्धी अर्थ दोनों प्रसंगों में एक ही हैं। जहाँ तर्क कर्तव्य का प्रश्न हैं हेअर इस शब्द को अधिक सीमित मानता है। इसका प्रयोग नैतिक, कानूनी, सैनिक आदि सन्दर्भों में ही होता है।

'शुभ' के समान 'उचित', 'चाहिए' आदि के प्रयोग भी सार्वभौमिक होते हैं। वह मानता है कि नैतिक प्रसंगों में इनका सार्वभौमिक होना आवश्यक है। इसी आधार पर वह आदेशात्मक एवं नैतिक नियमों में अन्तर करता है। मात्र आदेश के लिए सार्वभौमिक होना अनिवार्य नहीं है, जबकि नैतिक नियम अनिवार्य हैं। बाद में हेअर ने सभी मूल्यात्मक नियमों के लिए

सार्वभौमिकता को अनिवार्य मान लेता है। यहाँ उसका मत कांट के समान है, किन्तु जहाँ कांट का नियम नैतिक नियम है, हेअर का मत केवल तार्किक नियम है। ***फ्रीडम ऐण्ड रीजन*** में हेअर सार्वभौमिकता के आधार पर ही नैतिक तर्कना की व्याख्या करता है। अतः इस सम्बन्ध में कुछ आलोचनाओं का विवेचन आवश्यक है।

ए. सी. मैकिन्टायर का विचार है कि सभी नैतिक निर्णयों का सार्वभौमिक होना आवश्यक नहीं है। यह सत्य है कि सभी नियम सार्वभौमिक होते है-चाहे वे नैतिक नियम हों या निर्नैतिक नियम। किन्तु सभी नैतिक निर्णय नियमों के अनुसार हों यह अनिवार्य नहीं है। कुछ नैतिक निर्णय किसी नियम को व्यक्त नहीं करते। उनका सार्वभौमिक होना अनिवार्य नहीं है। मैकिन्टायर सार्त्र का दिया एक उदाहरण देता है। -एक नव युवक निश्चय करता है कि उसे युद्ध में भाग नहीं लेना चाहिए, किन्तु वह यह नहीं कहता कि किसी को युद्ध में भाग नहीं लेना चाहिए। वह यह भी मानता है कि जो व्यक्ति युद्ध में भाग ले रहे हैं उनकी निन्दा भी नही करना चाहिए। इस उदाहरण के आधार पर मैकिन्टायर सभी नैतिक निर्णयों को सार्वभौमिक नहीं मानता। किन्तु मैकिन्टायर की आलोचना तर्क संगत नहीं है। जो व्यक्ति यह निर्णय लेता है कि उसे युद्ध में भाग नहीं लेना चाहिए उसके लिए या तो यह निर्णय व्यक्तिगत निर्णय है या नैतिक निर्णय। व्यक्तिगत निर्णय नैतिक निर्णय नहीं हो सकता। यदि वह मानता है कि उसका निर्णय नैतिक निर्णय है तो उसे स्वीकार करना पड़ेगा कि जिस परिस्थिति में वह है उस परिस्थिति में प्रत्येक व्यक्ति यह निर्णय ले सकता है कि उसे युद्ध में भाग नहीं लेना चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं मानता तो उसका निर्णय नैतिक निर्णय नहीं है।

मैकिन्टायर की एक अन्य आपत्ति भी है। हेअर ने सार्वभौमिकता के नियम को केवल तार्किक नियम माना है, कांट के समान नैतिक नियम नही। उसका विचार है कि सार्वभौमिकता नैतिक शब्दों के अर्थ में ही निहित है। किन्तु मैकिन्टायर कहता है कि संगति से सम्बन्धित अपेक्षा वस्तुतः नैतिक आवश्यकता है, तार्किक आवश्यकता नहीं। उदारवादी विचारक नैतिकता का निश्चय इस प्रकार करते हैं कि वे सार्वभौमिकता को नैतिक शब्दों का अर्थ ही बना देते

हैं।[29] हेअर ने अपने विश्लेषण को नैतिक दृष्टि से तटस्थ माना है। वह किसी नैतिक नियम को अपने विवेचन में सम्मिलित नहीं करता। उसका यह विचार सत्यप्रतीत होता है कि नैतिक निर्णय सार्वभौमिक होते हैं।

वार्नाक[30] ने भी सार्वभौमिकता की आलोचना किया है। उसका मत है कि सार्वभौमिकता की आवश्यकता केवल नैतिक निर्णयों में सुसंगति के लिए है। यदि कोई व्यक्ति कहता है कि सभी यहूदियों की हत्या करना उचित है और वह स्वयं यहूदी है तथा अपनी हत्या का अनुमोदन करता है तो सार्वभौमिकता के आधार पर उसका निर्णय उचित हो जाएगा। किन्तु क्या वास्तव में इसे उचित कहा जाएगा? हेअर के *फ्रीडम ऐण्ड रीजन* में इसका उत्तर दिया है। वह मानता है कि कोई भी विवेकवान व्यक्ति अपने हितों की उपेक्षा नहीं करेगा। यहूदी होने के कारण वह अपनी हत्या का समर्थन नही करेगा। अतः वह व्यक्ति इसे सार्वभौमिक निर्णय का रूप नहीं देना चाहेगा। केवल हठधर्मी व्यक्ति (फैनेटिक) ही ऐसा कर सकता है। इस प्रकार हेअर वर्णनात्मक अर्थ तथा वर्णनात्मक अर्थ पर आधारित तार्किक सम्बन्धों एवं सार्वभौमिकता के आधार पर नैतिक तर्कना को संभव मानता है।

नैतिक तर्कना

हेअर के अनुसार, जैसा पहले स्पष्ट किया गया है, नैतिक निर्णय बौद्धिक निर्णय हैं, संवेगात्मक या भावनात्मक अभिव्यक्ति नहीं। नैतिक निर्णयों का उद्‌देश्य अपना तथा अन्य व्यक्तियों का मार्ग दर्शन करना है, उनकी अभिवृत्तियों को प्रभावित करना नहीं। अतः नैतिक निर्णयों का समर्थन उपयुक्त नैतिक तर्कों द्वारा किया जा सकता है। नैतिक तर्कों का प्रयोग इन निर्णयों को वैध सिद्ध करने के लिए किया जाता है, किसी व्यक्ति को प्रभावित करने के लिए नहीं। अतः हेअर मानता है कि नैतिक निर्णयों एवं युक्तियों में तार्किक सम्बन्ध होता है। अब प्रश्न है कि हेअर के अनुसार नैतिक युक्तियों का स्वरूप क्या है? इस सम्बन्ध में हेअर ने *लैंग्वेज आफ मारल्स* एवं *फ्रीजम ऐण्ड रीजन* में विचार किया है। *फ्रीडम ऐण्ड रीजन* में उसने जो कुछ

कहा है वह, कुछ संशोधन के साथ, प्रथम पुस्तक में दी गई व्याख्या को ही पुष्ट करता है। सर्व प्रथम हम प्रथम पुस्तक के अनुसार नैतिक युक्तियों का विवेचन करेंगे।

लैंग्वेज आफ मॉरल्स में हेअर ने तार्किक सम्बन्धों एवं सार्वभौमिकता के आधार पर नैतिक युक्तियों का स्वरुप निर्धारित किया है। हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं कि नैतिक निर्णय परामर्शात्मक हैं। परामर्शात्मक होने के कारण उनमें आदेशात्मक वाक्य आनिवार्यतः अनुलन्गित रहता है। कोई व्यक्ति'मुझे क करना चाहिए'का प्रयोग मूल्यात्मक निर्णय के रूप में कर रहा है या नहीं का निर्णय इस बात से होता है कि वह यह मानता है कि नहीं कि यदि वह इस निर्णय को स्वीकार करता है तो उसे इस आदेश को भी मानना पड़ेगा कि मैं क करूँ।[31] अर्थात् नैतिक सिद्धान्तों से विशेष आदेश निगमित किये जा सकते हैं। इसके लिए दो बातें आवश्यक हैं।(1) नैतिक सिद्धान्तों को सार्वभामिकता स्वरूप देना अथवा नैतिक नियमों की सार्वभामिकता की संभावना। नैतिक सिद्धान्त ही मुख्य आधार वाक्य होते है। उनका सार्वभामिक होना आवश्यक है। (2) नैतिक कथनों में तार्किक सम्बन्धों की संभावना का स्पष्टीकरण।

प्रायः यह माना जाता है कि निगमनात्मक तक शास्त्र का सम्बन्ध केवल वर्णनात्मक वाक्यों से है। *माइंड* (1949) में प्रकाशित अपन लेख *इम्परेटिव सेन्टेन्सेज* में हेअर इस मत का खण्डन करता है। उसका मत है कि जिस प्रकार के तार्किक सम्बन्ध वर्णनात्मक वाक्यों में होते हैं वही सम्बन्ध आदेशात्मक वाक्यों में भी होते हैं। उसके अनुसार नैतिक युक्तियाँ निगमनात्मक होती हैं। ऐसी सभी युक्तियाँ विश्लेषणात्मक हैं क्योंकि उनकी वैधता तार्किक प्रतीकों 'सभी' 'या', 'नही' आदि के अर्थों पर ही निर्भर है। इसी प्रकार आदेशात्मक वाक्यों में आपादन, व्याघात आदि का सम्बन्ध होता है। उदाहरण के लिए "सभी कारें बायें घूमें"। आदेश उपयुक्त परिस्थिति में इस आदेश को अनुलन्गित करता है कि "यह कार बायें घूमे" इसी प्रकार "रूको" आदेश "सावधानी के साथ आगे चलो" आदेश का व्याघाती है। *द लैंग्वेज आफ मॉरल्स* मे वह इन युक्तियों का विस्तार से विवेचन करता है। इस पुस्तक में वह दिखाता है कि सभी निगमनात्मक युक्तियाँ विश्लेषणात्मक होती है। अर्थात् निगमनात्मक युक्तियाँ शब्दों, विशेष रूप से तार्किक

शब्दों, जैसे 'न' यदि- - - - तो ', 'और, 'या' आदि तथा परिमाणकों 'सभी' एवं 'कुछ' के अर्थ पर निर्भर होती है।[32] व्याघात या आपादन को न समझना इन शब्दों को न समझने का परिणाम है। "यदि कोई व्यक्ति मानता है कि सभी मनुष्य मरणशील है, और सुकरात मनुष्य था किन्तु यह नहीं मानता कि सुकरात मरणशील था, तो सही प्रतिक्रिया यह नहीं कि तुम्हें तर्कशास्त्र का ज्ञान नहीं है, सही प्रतिक्रिया यह है तुम्हें 'सभी' शब्द का अर्थ नही आता क्योंकि यदि ऐसा होता तो तुम यह भी जानते कि इस प्रकार का अनुमान कैसे किया जाता है।"[33] किन्तु इस प्रकार का तार्किक सम्बन्ध आदेशात्मक वाक्यों के लिए किस प्रकार संभव है? ***लैंग्वेज आफ मॉरल्स*** में हेअर का उत्तर है कि तार्किक शब्दों को "वाक्य के फ्रैस्टिक्स का अवयव मानना सर्वोत्तम है।" इसका अर्थ है कि "यह वर्णनात्मक एवं आदेशात्मक वाक्यों में समान है"[34] ***इम्परेटिव सेन्टेन्सेज*** लेख मे हेअर ने दोनो प्रकार के वाक्यों के समान विषय को ***डेस्क्रिप्टर*** एवं वर्णन तथा आदेश बताने वाले तत्व को 'डिक्टर्स' कहा था। किन्तु ***लैंग्वेज आफ मॉरल्स*** में इन शब्दों के स्थान पर 'फ्रैस्टिक्स' एवं 'न्युस्टिक्स' का प्रयोग किया है। फ्रैस्टिक्स का प्रयोग एक ग्रीक शब्द के आधार पर किया गया है जिसका अर्थ होता है इंगित करना या संकेत करना। इसी प्रकार 'न्युस्टिक्स' भी ग्रीक शब्द पर आश्रित है जिसका अर्थ है सहमति की अभिव्यक्ति। हम पहले ही इन्हें स्पष्ट कर चुके हैं। संक्षेप इनका अन्तर इस प्रकार है:

1. तुम दरवाजा बन्द करने वाले हो। (वर्णनात्मक)

2. दरवाजा बन्द कर दो। (आदेशात्मक)

इन दोनो वाक्यों में निहित समान विषय है:

3. तुम्हारे द्वारा निकट भविष्य में दरवाजा वन्द किया जाना इस समान तत्व को हेअर 'फ्रैस्टिक्स' कहता है। वाक्य के कुछ शब्द इसका निर्देश करते हैं। किन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता है कि इसे किस रूप में समझा जाय। इसीलिये 'न्युस्टिक्स' की आवश्यकता है। यदि इसके सम्बन्ध में कथन करना है तो 'फ्रैस्टिक्स' के पश्चात् 'हाँ' लिखा जाता है, यदि आदेश देना है तो अन्त में 'कृपया' लिखा जाता है। जैसेः

(4) तुम्हारे द्वारा निकट भविष्य में दरवाजा बन्द किया जाना, हाँ।

(5) तुम्हारे द्वारा निकट भविष्य में दरवाजा बन्द किया जाना, कृपया।

स्पष्ट है कि तीसरा वाक्य फ्रैस्टिक्स से सम्बन्धित है। यह वर्णनात्मक एवनं आदेशात्मक वाक्यों में समान है। तार्किक शब्दों का सम्बन्ध इसी से है। अतः वर्णनात्मक एवं आदेशात्मक दोनो वाक्यों में एक ही प्रकार के तार्किक सम्बन्ध संभव होते हैं। इसीलिए तार्किक नियमों का प्रयोग आदेशात्मक वाक्यों के लिए किया जाता है। उदाहरण के लिए यदि "तुम दरवाजा मत बन्द करो" का निषेध करना है तो न्युस्टिक में कोई परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन 'फ्रैस्टिक्स' में किया जाता है। जैसेः

(6) तुम्हारे द्वारा दरवाजा न वन्द किया जाना।

इसके बाद 'हाँ' या 'कृपया' लगाकर इसे निषेधात्मक वर्णनात्मक या आदेशात्मक वाक्य में परिवर्तित किया जा सकता है।

हेअर कहता है कि चूंकि तार्किक शब्दों का प्रयोग केवल फ्रैस्टिक्स में होता है अतः यह संभव है कि "साधारण वाक्य-कलन की पुनर्रचना केवल फ्रैस्टिक्स के शब्दों में की जाय, और तब इसका प्रयोग वर्णनात्मक एवं आदेशात्मक वाक्यों में समान रूप से उपयुक्त 'न्युस्टिक्स' लगाकर हो जाता है।"[35] यहाँ एक कठिनाई है। यदि आधार वाक्यों में एक आदेशात्मक है, एक वर्णनात्मक तो हम कैसे जान सकते हैं कि निष्कर्ष किस क्रियाभाव अर्थात किस प्रकार का होगा? इस सम्बन्ध में हेअर दो नियमों का उल्लेख करता हैः

1. कोई वर्णनात्मक निष्कर्ष वैधता के साथ ऐसे आधार वाक्यों से निगमित नहीं हो सकता जो इनमें से केवल वर्णनात्मक आधार वाक्यों से वैधता पूर्वक निगमित न हो सके।

2. कोई भी आदेशात्मक निष्कर्ष वैधता के साथ ऐसे आधार वाक्यों से निगमित नहीं हो सकता जिसमें कम से कम एक आधार वाक्य आदेशात्मक न हो।[36]

इसी एक साथ हेअर दो अन्य कथनों को महत्व देता हैः

(अ) नैतिक तर्कना का तर्कशास्त्र निगमनात्मक एवं विश्लेषणात्मक है।

(ब) नैतिक तर्कना का सम्बन्ध 'वास्तविक विषय' से है क्योंकि इसका उद्देश्य 'ऐसा करो' जैसे आदेशों से है।[37]

प्रथम का अर्थ है कि नैतिक निष्कर्ष में ऐसा कुछ नहीं हो सकता जो अर्थ के आधार पर ही आधार वाक्यों में निहित न हो। अ एवं व दोनो का अर्थ है कि नैतिक युक्तियों में एक आधार वाक्य सार्वभौमिक आदेश या आचरण का सामान्य सिद्धान्त होना चाहिए। इसी प्रकार अनुमान के दो नियमों से हेअर सिद्ध करना चाहता है कि वर्णनात्मक आधार वाक्यों से केवल वर्णनात्मक निष्कर्ष प्राप्त हो सकता है। दूसरे शब्दों में वर्णनात्मक आधार वाक्यों से नैतिक निष्कर्ष का निगमन अवैध है। दूसरा नियम यह स्पष्ट करता है कि आदेशात्मक निष्कर्ष और सभी मूल्यात्मक वाक्यों से एक आदेशात्मक वाक्य प्राप्त होता है-तभी संभव है जब एक आधार वाक्य सार्वभौमिक आदेश या मूल्यात्मक वाक्य या आचरण का सार्वभौमिक सिद्धान्त हो। हेअर के प्रथम नियम के विरोध में प्रति उदाहरण दिए गए हैं जिससे इस नियम की वैधता अमान्य हो जाती है। उदाहरण के लिए निकोलस रेशर ने ***द लॉजिक आफ कमांड्स*** में यह तर्क दिया है:

जान:अपनी कार घर ले जावो (आदेशात्मक वाक्य)

से

जान के पास कार है (वर्णनात्मक वाक्य)

का निगमन वैधता पूर्वक किया जा सकता है

इसी प्रकार

कभी भी अविधिक कार्य मत करो (आदेश)

एवम्

कभी अ मत करो(आदेश)

से

अ करना अविधिक है (वर्णन)

का निगमन वैध है।

किन्तु हेअर का मुख्य नियम दूसरा है। संभवतः वह प्रथम नियम की आलोचना का स्वयं विरोध नहीं करेगा, एवं दूसरा नियम वैध है तथा नैतिक तर्कना में इसी का प्रयोग किया गया है। नैतिक अनुमान केवल शाब्दिक नहीं हो सकता क्योंकि परामर्शात्मक होने के कारण यह अनिवार्यतः मानव आचरण या कर्मों से सम्बन्धित होता है। *लैंग्वेज आफ मॉरल्स* में उसका मत है कि नैतिक युक्तियों का स्वरूप न्याय वाक्य का होता है। इसे वह "व्यावहारिक न्याय वाक्य" या "मिश्र न्याय वाक्य" कहता है। इन युक्तियों को पूरी तरह से न्याय वाक्य का स्वरूप प्रदान करने के लिए वह "चाहिए", "शुभ" आदि शब्दों का निराकरण करके मुख्य आधार वाक्यों को स्पष्ट आदेशात्मक रूप में रखता है। उदाहरण के लिए :

कभी भी असत्य मत कहो

वा असत्य है

इसलिए वा मत कहो

यहाँ मुख्य आधार वाक्य स्पष्ट आदेश है, दूसरा आधार वाक्य वर्णनात्मक कथन है, एवं निष्कर्ष आदेश है। इस सन्दर्भ में हेअर टूलमिन द्वारा दी गई युक्ति के स्वरूप पर विचार करता है। टूलमिन की युक्तिइस प्रकार है :

वा असत्य है

इसलिए वा मत कहो

टूलमिन का विचार है कि तथ्यात्मक कथन से आदेशात्मक निष्कर्ष निकलता है। किन्तु इस प्रकार के निष्कर्ष के लिए एक विशेष अनुमान नियम की आवश्यकता है। टूलमिन के अनुसार "कभी भी असत्य मत कहो" इसी प्रकार का अनुमान का नियम है। अतः आधार वाक्य के

रूप में इसके प्रयोग की आवश्यकता नहीं है। हेअर के अनुसार इस प्रकार की युक्ति मान्य नहीं हो सकती है। वह कहता है:

"यह मानना है कि केवल वर्णनात्मक आधार वाक्यों से आदेशात्मक निष्कर्ष निगमित होता है व्यावहारिक महत्व है विषयों को मात्र शाब्दिक विषय बना देना है"[38]

"मान लिजिए मै कहता हूँ 'ऐसा मत कहो क्योंकि यह असत्य है" क्या हम इस युक्ति को इस प्रकार लिख सकते हैं:

वा असत्य है

इसलिए वा मत कहो

या हम इसमें आदेशात्मक मुख्य आधार 'कभी भी असत्य मत कहो' जोड़ेंगे? यदि दूसरा विकल्प लेते है तो युक्ति तर्कशास्त्र के साधारण नियमों के अनुसार वैध है, किन्तु यदि प्रथम विकल्प मानते हैं तो अनुमान के विशेष नियम की आवश्यकता है, जो यही आधार वाक्य एक भिन्न रूप में होगा। क्या इससे कोई अन्तर पड़ता है कि हम किस विकल्प का चुनाव करे? यदि हम एक तरफ आचरण के सम्बन्ध में सामान्य सिद्धान्तों जिनका निश्चित विषय हो और जो हमे बताते है कि हम व्यवहार में क्या करें, क्या न करें और दूसरी तरफ तार्किक नियम जो सही ढंग से बोलने एवं सोचने के नियम हैं, व्यवहार के नियम नहीं या जिनका कर्म से नहीं बल्कि शब्दों के अर्थ से सम्बन्ध है तो अन्तर अवश्य पड़ता है"[39]

हेअर की यह आलोचना पूर्णतः उपयुक्त है। टूलमिन[40] ने नैतिक प्रश्नों एवं तार्किक प्रश्नों को परस्पर मिला दिया है। इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि हेअर मुख्य आधार वाक्य के रूप में नैतिक सिद्धान्तों का प्रयोग क्यों करता है।

व्यावहारिक न्याय वाक्य की एक अन्य विशेषता को स्पष्ट करने के लिए एक दूसरा उदाहरण देखिए:

सभी बक्सों को स्टेशन ले जावो

यह इनमें से एक बक्सा है

इसलिए इसे स्टेशन ले जावो

इस युक्ति को अधोलिखित रूप में लिख सकते हैं: तुम्हारे द्वारा सभी बक्सों को स्टेशन ले जाना, कृपया इसका इनमें से एक बक्सा होना, हाँ

इसलिए इसका तुम्हारे द्वारा स्टेशन ले जाना, कृपया यह बताता है कि किस प्रकार वाक्यों का रूपान्तरण संभव है। किन्तु इस युक्ति पर विचार कीजिए;

सभी बक्सों को स्टेशन ले जावो

यह इनमें से एक बक्सा है

इसलिए तुम इसे स्टेशन ले जावोगे

यह युक्ति हेअर के अनुसार अवैध है। किन्तु क्यों? हेअर का उत्तर है कि निष्कर्ष किसी न किसी रूप में आधार वाक्य में निहित होता है, किन्तु यहाँ निष्कर्ष आधार वाक्यों में निहित नहीं है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नैतिक युक्तियाँ व्यावहारिक न्याय वाक्य है एवं न्याय वाक्य के सामान्य नियमों से उनकी वैधता सिद्ध की जा सकती। हम इन न्याय वाक्यों को मूल्यात्मक वाक्यों के रूप में, या फ्रैस्टिक्स एवं न्युस्टिक्स के साथ या आदेशात्मक रूपों मे व्यक्त कर सकते हैं।

व्यावहारिक न्याय वाक्य के तीन तत्वों परामर्शात्मकता, सार्वभौमिकता एवं तार्किक नियमों के अतिरिक्त एक अन्य तत्व है जिसका ऊपर संक्षेप में उल्लेख किया गया है। यह तत्व है नैतिक सिद्धान्त एवं निर्णय। इसी निर्णय के आधार पर हेअर ने टूलमिन के मूल्यात्मक अनुमान का खण्डन किया है। "मूल्यात्मक अनुमान आचरण विषयक तर्कना के एक ऐसे तत्व की उपेक्षा करता है जो नैतिकता का सारतत्व है। यह तत्व निर्णय है।"[41] तार्किक नियमों से नैतिक तर्कना के सभी पक्षों का निर्धारण नहीं होता। नैतिक युक्ति एक प्रकार का न्याय वाक्य है,

अतः इसके लिए मुख्य आधार वाक्यों की आवश्यकता है। हेअर के अनुसार ये सिद्धान्त स्वतः सिद्ध नहीं है जैसा कुछ दार्शनिकों ने मान लिया है। न इनका निगमन अधिक सामान्य स्वतः सिद्ध सिद्धान्तों से हो सकता है।[42] वह कहता है कि देकार्तीय पद्धति जिसके अनुसार आरम्भ ऐसे सिद्धान्तों से होना चाहिए जिन पर कोई प्रश्न या संशय न किया जा सके न नीतिशास्त्र में संभव है न विज्ञानों में। नैतिकता के क्षेत्र में नैतिक सिद्धान्त या मुख्य आधार वाक्य हमारे निर्णयों से प्राप्त होते हैं। हेअर के अनुसार यदि मै किसी सिद्धान्त जैसे "कभी भी असत्य मत बोलो" में अपवाद करता हूँ तो मैं एक सैद्धान्तिक निर्णय लेता हूँ। इस स्थिति में चुनाव नियम का पालन करने या उल्लंघन करने में नहीं होता बल्कि मैं जो भी निर्णय लेता हूँ उससे एक नया सिद्धान्त निर्मित होता है। जव भी किसी नैतिक सिद्धान्त में अपवाद किया जाता है और जब भी इसका उल्लंघन किया जाता है, इस सिद्धान्त में संशोधन होता है। उसके अनुसार सभी निर्णय सृजनात्मक होते हैं। "केवल मनमाने निर्णयों के अतिरिक्त सभी निर्णय सिद्धान्त विषयक निर्णय होते हैं। हम सदैव अपने लिए उदाहरण बनाते रहते हैं।"[43] इसी प्रकार "किसी सिद्धान्त के अनुसार कर्म करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि कर्म के पहले से ही कोई सिद्धान्त उपलब्ध हो, यह संभव है कि किसी विशेष ढंग से कर्म करने का निर्णय इस प्रकार से कर्म करने के परिणाम स्वरूप कर्म करने के किसी सिद्धान्त को स्वीकारना हो।"[44] वह कहता है कि यह सपष्ट नही है कि नैतिक सिद्धान्तों के अस्तित्व का क्या अर्थ है, पर यदि किसी अर्थ में इनका अस्तित्व है तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि ये सदैव कर्म से पहले ही है और हमें केवल इन पर विचार करना है। जब भी हम निश्चय करते हैं तो इसका सम्वन्ध सिद्धान्त से होता है जिसका प्रभाव उस स्थिति तक सीमित नहीं है।[45] कर्नर[46] के अनुसार दो बातें स्पष्ट हैं: (1) निर्णयों से सिद्धान्तों का सृजन होता है और (2) कभी कभी कर्म करने का निर्णय लेने के पहले सिद्धान्तों का अस्तित्व नहीं होता। किन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि उसने अधोलिखित दो बिन्दुओं को भी माना था या नहीं : (3) मेरे कर्म करने के निर्णय से उस सिद्धान्त की रचना होती है जिससे उस कर्म का औचित्य सिद्ध होता है, और (4) कर्म करने का निर्णय लेने के पूर्व सिद्धान्त का अस्तित्व नहीं होता। तीन एवं चार को मानना उचित

नहीं प्रतीत होता। संभवतः इसीलिए टूलमिन ने सामान्य एवं विशिष्ट स्थितियों में अन्तर किया था। प्रायः हम किसी निर्णय का औचित्य केवल इस आधार पर सिद्ध करते हैं कि यह निर्णय पूर्वमान्य सिद्धान्त के अन्तर्गत् है। किन्तु कभी कभी ऐसी स्थिति आ जाती है जिसमें मेरा निर्णय सम्पूर्ण नैतिक प्रक्रिया के लिए परीक्षणीय विषय हो जाता है। कभी कभी हेअर इस बात का संकेत देता है कि हमारे सभी निर्णय परीक्षणीय स्थितियॉ हैं। यह सत्य कि प्रायः हम स्वीकृत सिद्धान्तों द्वारा निर्णयों एवं कर्मों का औचित्य सिद्ध करते हैं। और यदि मैं विशेष निर्णय लेता हूँ तो यह कहना उचित प्रतीत नहीं होता कि इस निर्णय से उत्पन्न सिद्धान्त के द्वारा इसी निर्णय का औचित्य सिद्ध किया जा सकता है। यह संभव है कि किसी सिद्धान्त का औचित्य किसी अन्य सिद्धान्त से सिद्ध किया जाय एवं इन सिद्धान्तों के औचित्य के लिए पहले से स्वीकृत कोई सिद्धान्त न हो। हेअर इस बात पर ध्यान नहीं देता कि प्रायः अन्तिम औचित्य का न तो प्रश्न उठाया जाता है न इसकी आवश्यकता समझी जाती है। हेअर यह भी नहीं स्पष्ट करता कि अन्तिम या चरम निर्णयों का औचित्य युक्तियों द्वारा कैसे संभव है। हेअर की रचनाओं से यही ध्वनि निकलती है कि नैतिकता अन्त में ऐसे निर्णयों एवं प्रतिबद्धताओं पर निर्भर है जिनके लिए तार्किक प्रमाण संभव नहीं है।

लैंग्वेज आफ मॉरल्स में हेअर का विचार है कि सामान्य सिद्धान्त आनुभविक सामान्यीकरणों या प्राक्कल्पनाओ के समान है। अतः नैतिक निर्णयों एवं आदेशों के सम्बन्ध में वैसे ही संशय संभव है जैसे सामान्यीकरणों अथवा प्राक्कल्पनाओं के लिए। उसके अनुसार नैतिक निर्णय एवं आदेश अनुभवात्मक कथनों के समान सामान्य सिद्धान्तों से निगमनीय है। अनुभवात्मक कथनों की पुष्टि निरीक्षण से होती है, किन्तु नैतिक निर्णयों की पुष्टि का क्या आधार है? यह नहीं कहा जा सकता कि व्यक्ति वास्तव में कैसा निर्णय लेते हैं इसी आधार पर सिद्धान्तों का प्रमाणीकरण संभव है क्योंकि इसे मान लेने पर तथ्य एवं मूल्य का अन्तर समाप्त हो जाता है। *लैंग्वेज आफ मॉरलस* के अनुसार नैतिक युक्तियाँ मुख्य आधार वाक्यों पर निर्भर है, एवं मुख्य आधार वाक्य नैतिकता के सामान्य सिद्धान्त हैं जो हमारे निर्णयों पर आश्रित हैं।

अपनी दूसरी पुस्तक *फ्रीडम ऐण्ड रीजन* में हेअर ने नैतिक तर्कना के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुए कुछ अन्य तत्वों पर विचार किया है। इन संशोधनों से उसके पूर्ववर्ती सिद्धान्त की कुछ त्रुटियों का समाधान हो जाता है। *लैंग्वेज आफ मॉरल्स* मे दी गई व्याख्या के अनुसार नैतिक तर्कना की व्याख्या व्यावहारिक न्याय वाक्य एवं सिद्धान्तों के निर्णय द्वारा की गई है। इसके अनुसार हमें किसी परिस्थिति में क्या करना चाहिए इसका निश्चय एक मुख्य आधार वाक्य एवं एक अमुख्य आधार वाक्य से निष्कर्ष के रूप में एक निश्चित आदेश का निगमन करके किया जाता है। इसमें मुख्य आधार वाक्य आचरण विषयक सामान्य सिद्धान्त है एवं अमुख्य आधार वाक्य अपेक्षित कर्म विषयक तथ्यात्मक कथन। उसका यह भी मत था कि आचरण विषयक सामान्य सिद्धान्त हमारे निर्णय से उत्पन्न होते हैं। और हम किसी भी सिद्धान्त का निर्णय करने में स्वतंत्र है। इसका अर्थ है कि नैतिकता का आधार हमारा निर्णय है जिसका कोई तार्किक आधार नही है। किन्तु *फ्रीडम ऐण्ड रीजन* के अनुसार नैतिक तर्कना भले ही न्याय वाक्य में व्यक्त की जाय किन्तु इसका स्वरूप अन्वेषण की प्रकिया का है जिसका उद्देश्य यह दिखाना है कि कौन से विशेष परामर्शात्मक वाक्य सार्वभौमिक चाहिए कथनों अथवा आचरण के सामान्य सिद्धान्तों की स्थापना कर सकते है। इस अन्वेषण में कुछ महत्वपूर्ण निर्धारक तत्व हैं जिनके कारण सिद्धान्तों का निर्णय मनमाने ढंग से नही किया जा सकता। यह एक आपातिक किन्तु व्यापक तथ्य है कि सामान्य मनुष्यों की इच्छायें एक समान होती है और सभी सामान्य व्यक्ति चाहते हैं कि उनकी इच्छायें संतुष्ट हों। इसीलिए हम समान सिद्धान्तों का निर्णय करते हैं।

वह मानता है कि नैतिक तर्कना के चार आवश्यक तत्व हैं जो हमारे नैतिक चिन्तन को निर्धारित करते हैं। ये हैं: (1) परामर्शात्मक एवं सार्वभौमिकता द्वारा निर्धारित तार्किक आकार,(2) परिस्थिति से सम्बन्धित तथ्य, (3) इच्छायें एवं हित और (4) कल्पना।[47] सार्वभौमिकता पर ऊपर विचार किया गया है। तार्किक दृष्टि से इसी आधार पर वस्तुनिष्ठ बौद्धिक तर्कना संभव होती है। प्रायः पूर्वाग्रह, पक्षपात अथवा अन्य व्यक्तिगत कारणों से हम ऐसे सिद्धान्त का समर्थन

कर सकते हैं जिनसे अन्य व्यक्तियों के साथ अन्याय हो सकता है। अतः हेअर कांट के समान मानता है कि यदि हम कुछ करना चाहते हैं तो हमे पूँछना चाहिए कि क्या इसे सार्वभौमिक नियम बनाया जा सकता है। "यदि कोई व्यक्ति अन्य मनुष्यों के विषय में कोई नैतिक निर्णय देने के लिए तैयार है किन्तु अपने कर्मों के सम्बन्ध में वह ऐसा नहीं करता तो हम उससे पूँछ सकते हैं कि किस आधार पर वह यह भेद करता है। यह सार्वभौमिकता के नियम का विशेष परिणाम है।- - - - - - उसे या तो कोई ऐसा सिद्धान्त देना चाहिए जिसके आधार पर वह समान प्रतीत होने वाले विषयों में भेद करता है अथवा उसे स्वीकार करना चाहिए कि वह जो निर्णय दे रहा है वह नैतिक निर्णय नहीं है।"[48] सार्वभौमिकता का नियम सिद्धान्तों के निर्णय पर अंकुश रखता है। हम ऐसे सिद्धान्त का चुनाव नहीं कर सकते जिसे सार्वभौमिक रूप देना संभव न हो। किन्तु कांट के विपरीत हेअर सार्वभौमिकता को तार्किक नियम के रुप में ही मानता है, नैतिक नियम के रूप में नहीं। पर ऐसे अनेकों नियमों को सार्वभौमिक रुप दिया जा सकता है जिनका नैतिकता से कोई सम्बन्ध न हो। इसके अतिरिक्त तार्किक नियम केवल आकार देते हैं, नैतिकता का सम्बन्ध आचरण से है। अतः हेअर अन्य तीन तत्वों को आवश्यक मानता है। तथ्यः किसी कर्म पर नैतिक निर्णय देते समय अथवा किसी कर्म का चुनाव करते समय उससे सम्बन्धित सभी प्रासंगिक तथ्यों पर ध्यान देना आवश्यक है। किसी तथ्य की उपेक्षा करने से या तथ्यों पर ध्यान न देने से हमारा निर्णय असंगत हो सकता है। इसी प्रकार प्रमाण प्रस्तुत करते समय भी प्रासंगिक तथ्यों की उपेक्षा नैतिक तर्कना को अवैध बना सकती है। नैतिक तर्क देते समय स्थिति से सम्बन्धित तथ्यों का उल्लेख अवश्य किया जाता है। इस उदाहरण को देखिए :

अश्लील साहित्य की बिक्री पर प्रतिबन्ध होना चाहिए। क्यों?

क्योंकि ऐसे साहित्य की बिक्री से यौन-अपराधों में वृद्धि होती है।

इस युक्ति को न्याय वाक्य के रूप में इस प्रकार रखा जा सकता है;

1. जिस साहित्य से यौन-अपराधों में वृद्धि होती है उसकी बिक्री पर प्रतिबन्ध होना चाहिये।

2. अश्लील साहित्य से यौन-अपराध में वृद्धि होती है।

3. अतः अश्लील साहित्य की बिक्री पर प्रतिबन्ध होना चाहिये। इसमें (i) मुख्य आधार वाक्य सार्वभौमिक आचरण सिद्धान्त है, (ii) अमुख्य आधार वाक्य तथ्यात्मक कथन है, एवं (iii) विशेष आचरण विषयक निर्णय निष्कर्ष है।

इसमें युक्ति देने वाला व्यक्ति अमुख्य आधार वाक्य में दिए तथ्य को प्रासंगिक मानकर उसे तर्क के रूप में प्रस्तुत करता है। यदि अन्य व्यक्ति मुख्य आधार वाक्य से सहमत हैं तो वे या तो अमुख्य आधार वाक्य में दिये गये तथ्य को अस्वीकार करें या निष्कर्ष को स्वीकार करें। अमुख्य आधार वाक्य तथ्यात्मक कथन है। इसकी सत्यता पर प्रश्न उठाया जा सकता है। किन्तु केवल तथ्यों से ही नैतिक विवादों का समाधान नहीं होता।

इच्छायें एवं हितः नैतिक मूल्यांकन में मनुष्य की इच्छाओं एवं हितों का विशेष महत्व है। हमारा निर्णय हमारे तथा अन्य व्यक्तियों की इच्छाओं तथा हितों को प्रभावित करता है। इसी प्रकार यदि इच्छायें एवं हित न हों तो नैतिक निर्णय की आवश्यकता ही नहीं है। इच्छायें एवं आवश्यकतायें वास्तविक या संभावित हो सकती है।यदि हमारी इच्छायें न होती या संसार में क्या होता है इससे हमारे ऊपर कोई प्रभाव न पड़ता तो नैतिक युक्ति की आवश्यकता न होती।[49] हेअंर के अनुसार नैतिक निर्णयों की सार्वभौमिकता का हमारी इच्छाओं एवं हितों के सन्दर्भ में दो तार्किक परिणाम हैं।[50] प्रथम, हम किसी परामर्श को सार्वभौमिक रूप देकर जिनसे तर्क कर रहे हैं उनकी इच्छाओं के सन्दर्भ में इसकी परीक्षा कर सकते हैं। हेअर एक ऐसे व्यक्ति का उदाहरण देता है जिसने अ को ऋण दिया है। वह व्यक्ति चाहता है कि अ पर अभियोग चलाया जाय। सार्वभौमिकता से यह स्पष्ट होता है कि यदि उस व्यक्ति ने किसी से ऋण लिया है तो उस पर भी अभियोग चलाया जाय। किन्तु वह ऐसा नहीं चाहेगा। अतः उसे अ पर अभियोग नही चलाना चाहिए। इस प्रकार सार्वभौमिकता एवं इच्छा के आधार पर नैतिकता का स्वर्णिम नियम (गोल्डेन रुल) सिद्ध होता है।[51] दूसरे परिणाम को स्पष्ट करने के लिए वह एक अन्य उदाहरण देता है। एक न्यायाधीश को एक अपराधी के विषय में निर्णय

देना है। वह अपराधी के साथ जो कुछ करता है, सर्वाभौमिकता एवं उसकी इच्छा से सिद्ध होता है कि वह सभी के साथ उसी प्रकार का व्यवहार करे। इससे आचरण विषयक सिद्धान्त मिलता है कि 'प्रत्येक व्यक्ति को समान व्यवहार का अधिकार है।' सार्वभौमिकता के अन्तर्गत् इच्छाओं पर विचार करने से यह सिद्ध होता है कि न्यायाधीश को अपराधी को दण्डित करना चाहिए। उपयोगितावादी नीतिशास्त्र का आधार यही है।[52]

इच्छाओं एवं हितो के आधार पर नैतिकता का निश्चय होता है, पर हेअर इस संभावना को स्वीकार करता है कि कोई व्यक्ति अन्य मनुष्यों की इच्छाओं की उपेक्षा करते हुए भी नैतिक निर्णय दे सकता है। हेअर के अनुसार ऐसा मनुष्य हठी (फैनेटिक) है।[53] एक नाजी का उदाहरण लीजिए जो मानता है कि सभी यहूदियों की हत्या कर देनी चाहिए। यदि इस यहूदी को विश्वास दिला दिया जाय कि उसके माता पिता भी वास्तव में यहूदी थे तो वह संभवतः अपना निर्णय बदल देगा। किन्तु वह यह भी कह सकता है कि यदि मेरे माता-पिता यहूदी थे तो मेरी एवं मेरे परिवार की भी हत्या कर देना चाहिए, भले ही मेरी जीवित रहने की इच्छा हो। हेअर के अनुसार यह व्यक्तिहठी अवश्य है, किन्तु उसका निर्णय नैतिक है।[54] हेअर के अनुसार एक अन्य स्थिति भी अन्य व्यक्तियों की इच्छाओं का अपवाद है। कोई मनुष्य अन्य मनुष्यों की इच्छाओं को महत्व न देकर केवल अपने आदर्श को स्वीकार करता है। वह एक ऐसे व्यक्तिका उदाहरण देता है जो क्लब में अधेड़ पुरुषों के मनोरंजन के लिए युवा लड़कियों द्वारा निर्वस्त्र होने को अनुचित मानता है। वह कहता है "- - - - - - जो व्यक्ति ऐसे प्रदर्शनों को अनैतिक मानते हैं उनके ऐसा मानने का आधार इन प्रदर्शनों का अन्य व्यक्तियों के हितो पर पड़ने वाला प्रभाव नहीं है, क्योंकि इससे प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा संतुष्ट होती एवं किसी के हित में बाधा नहीं पड़ती। ऐसे व्यक्ति इस तरह के कार्यों के लिए 'पतनकारी' शब्द का प्रयोग कर सकते हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि किस प्रकार के नैतिक प्रश्न पर विचार किया जा रहा है। यह प्रश्न हितों से नहीं बल्कि आदर्शो से सम्बन्धित है। इस प्रकार का आचरण अनेकों व्यक्तियों द्वारा मान्य मानवीय गुणवत्ता के आदर्श के प्रतिकूल है, इसीलिए

वे इसकी आलोचना करते हैं।"[55] ऐसे व्यक्ति केवल इतना नहीं कहते कि ऐसे नृत्य क्लब अच्छे नहीं हैं, बल्कि इनका मत है कि इन्हें बन्द कर देना चाहिए। ऐसे व्यक्तिअन्य मनुष्यों के हितों पर ध्यान नही देते, किन्तु इनके मत को निर्नैतिक नही कहा जा सकता। (वार्नाक इसका भी समर्थन नहीं करेगा)। इस प्रकार हेअर मानता है कि हठी एवं आदर्शवादी अन्य व्यक्तियों के हितों पर ध्यान नहीं देते, किन्तु इन संभावनाओं को नैतिकता के अन्तर्गत् ही रखना पड़ेगा।

कल्पना : ऊपर दिए गए कुछ उदाहरणों में जैसे ऋणदाता, न्यायाधीश एवं हठी नाजी की स्थितियों पर विचार करते समय नैतिक निर्णय देने वाले व्यक्ति के लिए स्वयं को अन्य के स्थान रखना आवश्यक था। इसके लिए कल्पना आवश्यक है। यदि अ स्वयं को ब के स्थान पर होने की कल्पना करता है तो दो बाते आवश्यक है: (1) ब का वास्तविक व्यक्ति होना आवश्यक नहीं है, काल्पनिक व्यक्ति पर्याप्त है; (2) अ जब ब के स्थान पर होने की कल्पना करता है तो अपनी इच्छाओं के साथ नही बल्कि ब की इच्छाओं के साथ। तभी अन्य की स्थिति का आकलन हो सकता है।

हेअर मानता है कि कल्पना में प्रयोग कार्ल पॉपर की प्राक्कल्पनात्मक-निगमनात्मक विधि के समान है।; विज्ञान में व्याख्या करने के लिए एक प्राक्कल्पना की रचना की जाती है

इस प्राक्कल्पना एवं आरम्भिक स्थितियों के आधार पर एक परीक्षणीय कथन का निगमन किया जाता है। यदि निगमित कथन की सत्यता स्थापित हो जाती है तो प्राक्कल्पना का प्रमाणीकरण हो जाता है। नैतिक युक्तियाँ भी इसी प्रकार की हैं ।

उदाहरण के लिए:

प्राक्कल्पना : सभी ऋणी व्यक्तियों पर अभियोग चलाना चाहिए।

आरम्भिक स्थितियाँ : मै ऋणी व्यक्ति हूँ।

निष्कर्ष : मुझ पर अभियोग चलाना चाहिए।

यहाँ ऋृण दाता निष्कर्ष को स्वीकार नही करेगा क्योंकि यह उसके हित में नहीं है, अतः विवेकशील होने के कारण वह प्राक्कल्पना को भी अस्वीकार करेगा। विज्ञान एवं नैतिकता में अन्तर भी है। विज्ञान में स्थितियॉ वास्तविक होती हैं, किन्तु नैतिकता में कल्पना का प्रयोग होता है। किन्तु जैसे विज्ञान प्राक्कल्पनाओं की खोज है वैसे ही नैतिकता सामान्य सिद्धान्तों की खोज है जिनकी परीक्षा वास्तविक या काल्पनिक उदाहरणों द्वारा की जाती है।[56] हेअर के अनुसार दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है : (1) इस तथ्य से कि नैतिकता में वास्तविक तथ्यों को न लेकर काल्पनिक स्थितियों पर विचार किया जाता है, सादृश्यता के स्वरूप पर कोई प्रभाव नही पड़ता। (2) हम निष्कर्ष को "स्वीकार नही सकते" की अनिवार्यता तार्किक नहीं है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि सामान्य नैतिक सिद्धान्तों, जिनका प्रयोग मुख्य आधार वाक्य के रूप में किया जाता है, का निर्णय करने के लिए परामर्शात्मकता एवं सार्वभौमिकता के साथ यह देखना आवश्यक है कि इससे निगमित आदेश मुझे स्वीकार्य है या नही। जो मुझे मान्य नहीं उसका प्रयोग मैं अन्य व्यक्तियों के लिए नैतिक रूप से नही कर सकता। हठी एवं आदर्शवादी के उदाहरणों से यह भी निश्चित होता है कि सभी व्यक्तियों की इच्छायें एवं हित समान हो यह आवश्यक नहीं है। किन्तु हेअर का मत है कि यह तथ्य है कि प्रायः सभी मनुष्यों में समान इच्छायें होती हैं। यदि ऐसा न हो तो नैतिकता असंभव हो जायगी। किन्तु यह भी आवश्यक नहीं है कि किसी रुप में इच्छाओं में विविधता न हो या भिन्नता न हो।

मूल्यांकन

हेअर के विरूद्ध अनेकों प्रकार के आक्षेप किए गए हैं। इनमें अनेकों पर पहले विचार किया गया है। किन्तु कुछ बिन्दुओं का विश्लेषण यहॉ आवश्यक है। सर्वप्रथम, हेअर का निर्णय एवं सामान्य सिद्धान्तों का विवेचन सबसे अधिक विवाद का विषय है। कुछ आलोचकों का यहाँ तक कहना है कि हेअर वास्तविक अर्थ में सवेगवाद की कठिनाइयों से आगे नहीं जा पाता। वार्नाक के अनुसार परामर्शवाद में भी संवेगवाद के समान "युक्तियों के लिए कोई विशेष

स्थान नहीं है।''[57] संवेगवाद के समान परामर्शवाद भी केवल यही तक सीमित नहीं है कि हम प्रमाणों के आधार पर निर्णय लेते है। वे यह भी मानते हैं कि हम प्रमाणों का चुनाव भी करते हैं। वार्नाक कहता है : "ऐसा प्रतीत होता है कि मैं कोड़े मारने का विरोध करने का निर्णय इस लिए नही करता कि मै क्रूरता का विरोध करता हूँ, बल्कि मैं निर्णय करता हूँ कि कोड़ा मारना अनुचित है क्योंकि मैं क्रूरता का विरोध करने का निर्णय करता हूँ। और यदि मै यह निर्णय करता हूँ तो इसका आधार क्या है ? कि मैं ऐच्छिक रूप से दुःख देने का विरोधी हूँ? नहीं-बल्कि मै इसका विरोध करने का निर्णय लेता हूँ। इत्यादि।''[58] वार्नाक कहता है कि कुछ व्यक्ति केवल प्रमाण के आधार पर निर्णय ही नही करते बल्कि अपना प्रमाण भी निश्चित करते है, किन्तु ऐसे व्यक्ति युक्तियो के क्षेत्र में आदर्श नही बल्कि बाधा हैं। ऐसे व्यक्तिबौद्धिकता के उदाहरण नही हो सकते। ऐसे व्यक्तियों का यह उत्तर पर्याप्त नहीं है कि नैतिक युक्ति से सुसंगित का निश्चय होता है। क्या पागल एवं बेवकूफ सुसंगत नहीं होते? हडसन के अनुसार गणितज्ञ जिसे प्रमाण मानता है वह वैज्ञानिक के प्रमाण से भिन्न है। क्या नैतिकता के क्षेत्र में एक भिन्न प्रकार के प्रमाण का चुनाव नही हो सकता? कठिनाई तब आती है जब जो भी प्रमाण निर्धारित किया जाय उसका सुसंगत रुप में पालन न किया जाय।[59] किन्तु मुख्य् प्रश्न यह है कि क्या नैतिकता में किसी भी तथ्य को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इस प्रश्न पर हम अगले अध्याय में विचार करेंगे।

इसी प्रकार हठी एवं आदर्शवादी व्यक्तियों के सम्बन्ध में समस्यायें उठती है। हठी व्यक्ति अतार्किक ढंग से किसी विशेष सिद्धान्त के प्रति प्रतिबद्ध हो जाता है। ऐसे व्यक्ति के साथ तर्क करना संभव नहीं है। किन्तु हेअर का विचार है कि संयोग से ऐसे व्यक्ति बहुत ही कम होते हैं एवं इनकी उपस्थिति से नैतिकता पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। जहाँ तक आदर्श का प्रश्न है हेअर का मत है कि आदर्शों का सार्वभौमीकरण संभव है। आदर्शों के सम्बन्ध में तर्क देना भी संभव है। हेअर की अपनी प्रति बद्धता उदारवादी आदर्शों के प्रति है। किन्तु यहाँ दो बातें महत्वपूर्ण हैं।(1) उदारवादी आदर्श भी अबौद्धिक प्रतिबद्धता के परिणाम हैं एवं स्वयं

मानक नैतिक निर्णय हैं।(2) उदारवादी आदर्श भी केवल विद्यमान इच्छाओं एवं हितों तक सीमित न हो कर उनके परे जाते हैं एवं उन्हें एक नवीन दिशा प्रदान करते हैं। अतः इन्हें भी केवल तर्कों तक सीमित नहीं किया जा सकता। हेअर का विश्वास है कि हठी एवं आदर्शवादी के अतिरिक्त सामान्य व्यक्तिसंयोग से समान इच्छायें रखते हैं और सार्वभौमिकता के नियम से इनमें सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। अतः वह कहता है कि नैतिक निर्णयों का वृहत्तर भाग नैतिक तर्क की परिधि में आ जाता है। जो क्षेत्र इससे बाहर है इससे निराश होने की आवश्यकता नही है। पर यह भी सत्य है कि सार्वभौमिकता एवं इच्छाओं के होते हुए भी निर्णय की संभावना एवं सिद्धान्तो का चुनाव व्यक्ति के निर्णय पर आश्रित होने के कारण अन्त में नैतिक निर्णयो के लिए निश्चित वस्तुनिष्ठ आधार नही रह जाता। हम यह नहीं कह रहे हैं कि नैतिक तर्कना के लिए किसी न किसी रूप में प्रकृतिवाद को मानना आवश्यक है। किन्तु मूल्यों एवं सिद्धान्तों के निर्धारण की संतोष जनक व्याख्या देना आवश्यक है। हेअर ने इस संभावना का विवेचन नहीं किया है। अपनी बाद की रचनाओं जैसे ***प्रैक्टिकल इन्फेरेंसेज***[60], ***मॉरल थिंकिंग***[61] एवं लेखों में ***फ्रीडम ऐण्ड रीजन*** के सिद्धान्तों को ही स्पष्ट करने का प्रयास किया है तथा वास्तविक एवं संभावित आक्षेपों का विवेचन किया है। नैतिक तर्कना का सुनिश्चित आधार अभी भी वांछित है। यह स्पष्ट है कि परामर्शवाद संवेगवाद की अपेक्षा अधिक संतोषजनक सिद्धान्त है। इसमें तर्कों की बौद्धिकता एवं वस्तुनिष्ठता को स्वीकार किया गया है। नैतिक तर्क मनोवैज्ञानिक प्रभाव से भिन्न है। नैतिक तर्क अन्य तर्को के समान आकारिक है एवं तार्किक नियमों से नियंत्रित है। समस्या केवल मुख्य आधार वाक्य की है। कुछ मुख्य आधार वाक्य अन्य युक्तियों से निगमित किए जा सकते हैं।

किन्तु कहीं न कहीं जाकर हमे आधार वाक्यों को स्वीकार कर लेना पड़ेगा। संभवतः इनका प्रमाणीकरण नही हो सकता। विज्ञानों में भी ऐसा ही होता है। किसी भी वस्तु की व्याख्या परमाणुओं की रचना से की जाती है। किन्तु इस प्रश्न का कि परमाणुओं की यही रचना क्यों है कोई उत्तर नहीं है। पर यहाँ सभी वैज्ञानिकों में सहमति होती है। नैतिकता में सर्वाधिक

सामान्य सिद्धान्तों के सम्बन्ध में सहमति नही हो पाती (कम से कम दार्शनिकों में)। अतः इस तथ्य की व्याख्या आवश्यक है। आचरण विषयक सामान्य सिद्धान्तों का आधार क्या है? केवल व्यक्ति का अपना निर्णय? इच्छाओं एवं हितों का सामंजस्य? या कुछ अन्य?

सन्दर्भ

1 हेअर आर. एम., ''द लैग्वेज आव मॉरल्स'' पृ० 82

2 वही, पृ० 8

3. वही, पृ० 13-14

4. माइन्ड xlvi(1937) में प्रकाशित तथा 'फैक्ट ऐंड वैल्यू' (पृ० 30)में संकलित।

5 हडसन, डब्लू. डी., 'माडर्न मॉरल फिलासफी' पृ० 157-58

6. हेअर, आर. एम., 'फ्रीडम एण्ड रीजन' पृ० 7-8

7. हेअर, आर. एम., 'लैंग्वेज आफ मारल' पृ०1

8. वही, पृ० 168-69

9. वही, पृ० 5

10. वही, पृ० 17

11. कर्नर, जी. सी., 'द रेवोल्यूशन इन एथिकल थ्योरी' पृ० 143-47

12. हेअर, आर. एम., 'द लैग्वेज आफ मॉरल' पृ० 171-72

13. हेअर, आर. एम., 'फ्रीडम ऐण्ड रीजन' पृ० 68

14. मैकिन्टायर, ए. सी., 'व्हाट मॉरल फिलासफी इज नाट' फिलासफी, 1957 पृ० 330

15. वार्नाक, जी. जे., 'कन्टेम्पोररी मॉरल फिलासफी'

16. वही, पृ० 34-5

17. वही, पृ० 35

18. हेअर, आर. एम., 'रिव्यू आफ कन्टेम्पोरेरी मॉरल्स फिलासफी' माइन्ड, 1968 (LXXVII) पृ० 438

19. वार्नाक आर. एम., 'कन्टेम्पोररी मॉरल फिलासफी' पृ० 39

20. हेअर, आर. एम., 'रिव्यू ऑफ कन्टेम्पोररी मॉरल फिलासफी,' माइन्ड, 1968, पृ० 439-40

21. हेअर, आर. एम., 'द लैंग्वेज आफ मॉरल्स' पृ० 3

22. वही, पृ० 127

23. वही, पृ० 144-45

24. वही, पृ० 145-46

25. वही, पृ० 185

26. वही, पृ० 153

27. वही, पृ० 155

28. मैकिन्टायर, ए. सी., 'ह्वाट मोरिलिटी इज नाट'

29. वही,

30. वार्नाक जी. जे., 'कन्टेम्पोररी मॉरल फिलासफी' पृ० 43

31. हेअर, आर. एम., 'द लैंग्वेज आफ मारल' पृष्ठ 168-69

32. वही, पृ० 32

33. वही, पृ० 33

34. वही, पृ० 21

35. वही, पृ० 25-26

36. वही, पृ० 28

37. वही, पृ० 39

38. वही, पृ० 46-47

39. वही, पृ० 48-49

40. टूलमिन, एस. ई., 'द प्लेस आफ रीजन इन एथिक्स'

41. हेअर, आर. एम., 'द लैंग्वेज आफ मॉरल्स' पृ० 54-55

42. वही, पृ० 39

43 वही, पृ० 65

44 वही, पृ० 59

45. हेअर आर. एम., 'फ्रीडम ऐण्ड रीजन' पृ० 38

46. कर्नर, जी.सी., 'द रेवोल्यूशन इन एथिकल थ्योरी पृ. 176

47 हेअर, आर.एम., 'फ्रीडम एण्ड रीजन' पृ० 94

48. वही, पृ० 102

49. वही, पृ० 92-93

50. वही, पृ० 195

51. वही, पृ० 108

52. वही, पृ० 123

53. वही, पृ० 171-72

54 वार्नाक ने इसे नैतिक नहीं माना है—'कन्टेम्पोररी मारल फिलासफी' पृ० 59

55. हेअर, आर. एम., 'फ्रीडम एण्ड रीजन' पृ० 147

56. वही, पृ० 92

57. वार्नाक जी. जे., 'कन्टेम्पोररी मॉरल फिलासफी' पृ० 42

58 वही, पृ० 47

59. हडसन डब्लू. डी., 'माडर्न मॉरल फिसासफी' पृ० 208

60. हेअर आर.एम., "प्रैक्टिकल इन्फेरेंसेज" मैक्मिलन, 1971

61. हेअर, आर.एम., मॉरल थिंकिंग, आक्सफोर्ड यु. प्रे. 1981

अध्याय-5

अच्छे तर्कों का सिद्धान्त

'अच्छे तर्कों' के सिद्धान्त का मुख्य दार्शनिक एस. ई. टूलमिन है। उसकी पुस्तक *एनक्जामिनेशन आफ द प्लेस आफ रीजन इन एथिक्स* का प्रकाशन 1950 में हुआ था। टूलमिन ने नैतिक निर्णयों की व्याख्या के लिए विट्गेंस्टाइन के अर्थ विषयक प्रयोग सिद्धान्त को स्वीकार किया है। टूलमिन की पुस्तक हेअर की पुस्तक *द लैंग्वेज आफ मॉरल्स* के पहले प्रकाशित हुई थी, किन्तु हमने जान बूझ कर उसके सिद्धान्तों का विवेचन हेअर के पश्चात् किया है। इसका मुख्य कारण यह है कि कुछ अर्थों में उसका सिद्धान्त नव्य प्रकृतिवादी दार्शनिकों से मिलता है जिसका विवेचन अगले अध्याय में किया जायगा।

टूलमिन मानता है कि नैतिक दर्शन की मुख्य समस्या यह है कि नैतिक निर्णयों के पक्ष में किस प्रकार के तर्क दिए जा सकते है। इन तर्कों की खोज करना तथा इन तर्कों के स्वरूप का निश्चय करना अन्य प्रश्नों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। टूलमिन के अनुसार प्रज्ञावादी एवं संवेगवादी दार्शनिकों ने इस प्रश्न की उपेक्षा की है। उन्होंने नैतिक शब्दों 'शुभ', 'उचित', 'कर्तव्य' आदि तथा नैतिक निर्णयों 'यह शुभ है', 'यह उचित है' आदि पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। इसीलिए ये दार्शनिक नीतिशास्त्र में 'तर्क' के स्थान एवं महत्व को ठीक से नहीं समझा सके। टूलमिन के अनुसार मुख्य समस्या यह नहीं है कि "शुभ क्या है" अथवा "शुभ" का अर्थ क्या है। मुख्य समस्या यह है कि नैतिकता में "अच्छे तर्क क्या हैं" अथवा नैतिक निर्णय के समर्थन में दिए जाने वाले किन तर्कों को अच्छा तर्क माना जाता है, किन्हें नहीं।

नैतिक तर्कों का स्पष्टीकरण करने के पूर्व टूलमिन ने मूर एवं स्टीवेंसन के सिद्धान्तों में निहित कठिनाइयों को समाप्त करने के लिये इनके सिद्धान्तों का परीक्षण किया है। टूलमिन के मूर एवं स्टीवेंसन की आलोचना मूलतः इस आधार पर किया है कि इन दार्शनिकों ने नैतिक निर्णयों की सत्यता एव नैतिक युक्तियों की वैधता को समझने में बहुत बड़ी गलती की है। मूर ने नैतिक शब्दों के अर्थ की व्याख्या जिस रूप में किया है उससे या तो नैतिक तर्कना असंभव

हो जाती है या फिर नैतिक तर्कों का आचरण से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रह जाता। मूर के अनुसार शुभ का बोध केवल प्रज्ञा से होता है और प्रज्ञा के सम्बन्ध में तर्क के लिए स्थान ही नहीं है। स्टीवेंसन ने तर्कों की संभावना को स्वीकार तो किया है किन्तु नैतिक तर्क केवल मनुष्यों की पसन्द, नापसन्द एवं अभिवृत्तियों तक सीमित है। वह जो उचित प्रतीत होता है एवं जो वास्तव में उचित है उसमें कोई अन्तर नही कर सका। इसी प्रकार वह कह मानता था कि नैतिक निर्णय अभिवृत्तियों की अभिव्यक्तियॉ होने के कारण न सत्य हैं न असत्य; अतः नैतिक युक्तियों की वैधता का, उसके अनुसार, कोई अर्थ नहीं है।

टूलमिन स्टीवेंसन से इस बात में सहमत है कि नैतिक निर्णयों में हमारे कर्मों एवं निर्णयों को प्रभावित करने की शक्ति होती है किन्तु इस आधार पर स्टीवेंसन जो निष्कर्ष निकालता है टूलमिन उसे स्वीकार नहीं करता। टूलमिन का दृढ़ विश्वास है कि जो शुभ प्रतीत होता है एवं जो वास्तव में शुभ है उसमें अन्तर है। इसी प्रकार नैतिक निर्णयों के समर्थन में दिए जाने वाले कुछ तर्क वैध होते हैं, कुछ अवैध। वह मानता है कि " 'वैध'(एवं वैधता के मानदण्ड) का एक अर्थ है जो हमारे नैतिक विवेचन में पूर्व निहित है।"[1] दार्शनिक का कार्य इस निहित अर्थ की खोज करना है, यह प्रश्न उठाना नहीं कि नैतिक भाषा के लिए वैधता का प्रयोग उपयुक्त है या नही। स्टीवेंसन की असफलता का कारण यह है कि "तर्कना के सम्बन्ध में उसकी अवधारणा अत्यन्त संकुचित है-वह सहजता से मान लेता है कि गणितीय या तार्किक प्रमाण या वैज्ञानिक सत्यापन ही किसी कथन के लिए 'अच्छा तर्क' हो सकता है।"[2] टूलमिन के अनुसार नैतिक तर्कना में एक विशेष प्रकार के अनुमान या युक्ति का प्रयोग होता है जिसे वह 'मूल्यांलक अनुमान' कहता है। यह ऐसा अनुमान है जिसमें "तथ्यात्मक तर्कों से नैतिक निष्कर्ष निकालते है।"[3] स्टीवेंसन ने भी माना था कि नैतिकता में तथ्यात्मक तर्कों से नैतिक निष्कर्ष प्राप्त होता है। किन्तु स्टीवेंसन के अनुसार इस प्रकार का तर्क वैध या अवैध नहीं होता। मूर ने भी अन्त में, जब उसका यह मत नहीं रह गया था कि 'शुभ' किसी गुण का

निर्देश करता है, नैतिक युक्तिको स्वीकार किया था। किन्तु उसके अनुसार भी आधार वाक्य एवं निष्कर्ष में विश्लेषणात्मक या तार्किक आपादन का सम्बन्ध नहीं होता। आन्तरिक मूल्यों से नैतिक दायित्व, एवं नैतिक दायित्व से आन्तरिक मूल्यों से सम्बन्धित निष्कर्ष संभव है एवं ये निष्कर्ष वैध हैं, किन्तु उसका विश्वास था कि तथ्यात्मक आधार वाक्यों से नैतिक निष्कर्ष तभी वैध हो सकता है जब दोनों में विश्लेषणात्मक सम्बन्ध हो; स्टीवेंसन का सिद्धान्त भी इसी मान्यता पर निर्भर है। उसका विचार था कि (1) हम तथ्यात्मक तर्कों के आधार पर नैतिक निष्कर्ष निकालते हैं, और (2) ये निष्कर्ष भाषाई नियमों के आधार पर नहीं निकलते, अतः नैतिक युक्तियों के लिए वैधता का प्रश्न ही नही है।

स्टीवेंसन का निश्चित मत था कि नैतिक निर्णय सत्य या असत्य नहीं हो सकते। नैतिक निर्णय किसी वस्तु या तथ्य का निर्देश अथवा वर्णन नही करते। अतः उसके लिए नैतिक निर्णय न तो सत्य या असत्य होते हैं, न ये तार्किक रूप से परस्पर विरूद्ध हो सकते हैं।

स्टीवेंसन के विपरीत टूलमिन का मत है कि नैतिक निर्णयों के सम्बन्ध में सत्यापन, सत्यता एवं असत्यता के प्रश्न पूर्णतः उपयुक्त एवं सार्थक है।[4] किन्तु उसका मत है कि नैतिक निर्णयों को सत्य या असत्य मानने के लिए नैतिक शब्दों का निर्देशमात्मक होना आवश्यक नहीं है। नैतिक शब्द किसी प्राकृतिक या निर्प्राकृतिक गुण का निर्देश नही करते। नैतिक निर्णयों के सत्य या असत्य होने के लिए केवल इतना ही आवश्यक है कि 'अच्छे एवं बुरे तर्कों' में अन्तर हो जिनके द्वारा इनका समर्थन किया जा सके। स्टीवेंसन कहता है कि पूर्ववर्ती दार्शनिकों ने "यह मान लिया था कि परस्पर विरोधी नैतिक निर्णय तभी व्याघाती हो सकते हैं जब वे सम्बन्धित वस्तु के किसी गुण का निर्देश करें, और यदि ये निर्णय किसी ऐसे गुण का निर्देश नहीं करते तो यह आवश्यक है कि ये वक्ता की किसी मनोवैज्ञानिक अवस्था को सूचित करे-एवं इस स्थिति में ये परस्पर व्याघाती नहीं हो सकते।"[5] टूलमिन के अनुसार नैतिक शब्द किसी वस्तु या गुण का निर्देश नहीं करते, न विषय या गुण का, न मानसिक अवस्था का। वह कहता है:

"ऐसा कोई कारण नही है कि क्यों सभी शब्द निश्चित एवं विशिष्ट प्रक्रियाओं -भौतिक या मानसिक - के नाम हों : "इनमें केवल कुछ वास्तव में इस प्रकार के है जिनके लिए ऐसी प्रक्रियाओं का कथन सार्थक है। और हम सरलता से समझ सकते हैं कि जिन शब्दों के लिये ऐसा कथन सार्थक है उनमें नैतिक संप्रत्यय नही है।"[6] इसी प्रकार वह कहता है कि नैतिक असहमति एवं नैतिक निर्णयों के विरोध को मूलतः भिन्न ढंग से समझना चाहिएः

"हम यह अच्छी तरह देख चुके है कि नैतिक असहमति में व्यक्ति किस विषय में परस्पर विरोध करते हैं- किसी भौतिक या मनोवैज्ञानिक तत्व के लिए नहीं, किन्तु ऐसा विषय जो तार्किक उद्देश्यों के लिए उतना ही तात्विक एवं महत्वपूर्ण है-अर्थात् अन्यों की अपेक्षा किसी विशेष नैतिक निष्कर्ष के पक्ष में अच्छे तर्क हैं या नहीं।"[7]

स्पष्ट है कि अधोलिखित दो विचारों के आधार पर टूलमिन का सिद्धान्त मूर एवं स्टीवेंसन दोनों से भिन्न हैः

1नैतिक युक्तियाँ को जिनमें तथ्यात्मक आधार वाक्यों से नैतिक निष्कर्ष प्राप्त होते हैं, पूर्णतः उपयुक्त अर्थ में वैध कहा जा सकता है।

2 नैतिक निर्णय, यद्यपि किसी वस्तु का निर्देश नही करते, सत्य या असत्य तथा परस्पर व्याघाती हो सकते हैं।

अब प्रश्न यह है कि टूलमिन के अनुसार नैतिक कथन किस अर्थ में सत्य या असत्य होते हैं? टूलमिन सत्य के संवादिता सिद्धान्त को नहीं मानता। उसके अनुसार नैतिक निर्णय सत्य या असत्य होते हैं, किन्तु इनके लिए नैतिक शब्दों द्वारा गुणों का निर्देश करना या नैतिक निर्णयों का तथ्यों के अनुरूप या संवादी होने की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार वैधता के विषय में उसका मत पूर्णतः भिन्न है। नैतिक युक्तियों की वैधता के लिए सुंसगति या विश्लेषणात्मकता अप्रासंगिक हैं।

टूलमिन का मत है कि नैतिक भाषा के लिए सत्यता एवं वैधता से सम्बन्धित प्रश्न भिन्न भिन्न न होकर एक ही है। नैतिक निर्णय को सत्य कहने का अर्थ है कि ऐसे अच्छे तर्क हैं

जो इसका समर्थन करते हैं। एवं इसका अर्थ है कि कुछ तथ्यात्मक आधारवाक्यों से इस नैतिक निर्णय का वैध रुप से अनुमान किया जा सकता है। इस प्रकार नैतिक निर्णयों के लिए सत्यता की अवधारणा अधिक जटिल है। टूलमिन का मत है कि नैतिक निर्णय की सत्यता या असत्यता की समस्या तभी सार्थक हो सकती है जब इसका सम्बन्ध ऐसे वर्णनात्मक या तथ्यात्मक कथनों से हो जिनके सत्यता का निश्चय पहले ही किया जा चुका है। यह प्रश्न कि "क्या यह नैतिक निर्णय सत्य है?"का अर्थ है "क्या यह नैतिक निर्णय अमुक-अमुक तथ्यात्मक सत्य कथनों के सम्बन्ध में सत्य है?" और कोई नैतिक निर्णय सत्य है, यदि और केवल यदि, इन कथनों से इस निष्कर्ष का अनुमान वैध है। इस तथ्य का विवेचन करते समय टूलमिन वास्तव में उस तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है जिसके अनुसार शुभत्व एवं अन्य नैतिक संप्रत्ययों को आश्रित या परिणामी माना गया था। मूर का मत था कि कोई वस्तु उसमें निहित प्राकृतिक गुणों के आधार पर ही शुभ होती है। निर्प्राकृतिक गुणों का सार्थक रूप से कथन प्राकृतिक गुणों के सम्बन्ध में ही हो सकता है। टूलमिन का विचार है कि नैतिक निर्णय को सत्य या असत्य कहना सदा एवं अनिवार्यतः सत्य तथ्यात्मक कथनों या 'तर्कों' के सन्दर्भ में ही संभव है बहुत कुछ मूर के सिद्धान्त के अनुरूप है। किन्तु मूर प्राकृतिक गुणों एवं उन पर आश्रित शुभत्व की संतोषजनक व्याख्या नहीं कर पाया। उसका सोचना था कि इन दोनों का सम्बन्ध विश्लेषणात्मक सम्बन्ध से निर्बल किन्तु कारणात्मक सम्बन्ध से सबल है। वास्तव में वह इन दोनों में वास्तविक सम्बन्ध मानता था, किन्तु इस वास्तविक सम्बन्ध का स्वरूप स्पष्ट नहीं कर सका। स्टीवेंसन ने इस सम्बन्ध की व्याख्या मनोवैज्ञानिक एवं कारणात्मक रूप से करना चाहा, पर उसे भी सफलता नहीं मिली। कारण स्पष्ट है। यदि यह सम्बन्ध केवल मनोवैज्ञानिक है तो वैध नैतिक तर्कना के लिए कोई स्थान नही रह जाता। वह भी ह्यूम के समान तर्क को भावना की अपेक्षा निम्नतम स्थान देता है।

टूलमिन की नवीनता एवं महत्ता इस बात में निहित है कि उसने स्पष्ट किया कि नैतिक तर्कना की व्याख्या के लिए तथ्यों एवं मूल्यों में किसी सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है केवल ऐसे अनुमान के नियमों की जिनके द्वारा तथ्यों से मूल्यांकन निष्कर्ष प्राप्त होते हैं। इसी सन्दर्भ में उसका यह दावा है कि नैतिक निर्णय को सत्य कहने का अर्थ यह है कि इसके लिए अच्छे तर्क उपलब्ध हैं समझा जा सकता है। नैतिक निर्णय किसी तथ्य का कथन नही है। स्वतंत्र रूप में स्थित कोई नैतिक तथ्य नही है। टूलमिन के अनुसार मूर एवं स्टीवेंसन ने इस सम्बन्ध में भ्रामक एवं असत्य सिद्धान्तों का प्रतिवादन किया है। उसके अनुसार हमें केवल नैतिक निर्णयों एवं तथ्यात्मक कथनों के मध्य उन रुढ़िगत सम्बन्धों पर ध्यान देना है जो नैतिक तर्कना की प्रक्रिया में निहित है। इससे सभी बातें स्पष्ट हो जाती हैं। टूलमिन के अनुसार हमें नैतिक निर्णयों के लिए सत्य के किसी सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं है। केवल उन विधियों का स्पष्टीकरण आवश्यक है जिनके द्वारा हम यह निश्चय करते हैं कि इन नैतिक निर्णयों में कौन विश्वास के योग्य हैं। उसकी रुचि केवल सत्य के उन निकर्षों में यी जिनका नीतिशास्त्र में मनुष्य वास्तव में प्रयोग करते हैं।

टूलमिन के अनुसार कोई नैतिक निर्णय सत्य है यदि इसके लिए अच्छे तर्क हैं। इस प्रकार अ ब के लिए अच्छा तर्क है यदि अ स्वयं सत्य है एवं 'अ अतः ब' वैध है। टूलमिन का यह दावा नहीं था कि किसी नैतिक निर्णय को सत्य कहना पूर्णतः यह कहना है कि इसके लिए अच्छे तर्क हैं। यदि नैतिक निर्णय के लिए अच्छे तर्क हैं तो यह सत्य है कहने के लिए हमारे पास अच्छे तर्क हैं। अतः टूलमिन जो कुछ कहता है वह सत्य के स्वरूप के लिए किसी भी सिद्धान्त के अनुकूल है। किन्तु वास्तव में सत्य के स्वरूप में उसकी रुचि नहीं है और इसके लिए किये गये प्रयासों को वह भ्रामक मानता है।[8] इस प्रश्न के स्थान पर कि 'सत्य क्या है ?' या 'सत्य का अर्थ क्या हैं? वह यह प्रश्न उठाने की संस्तुति करता है कि 'निष्कर्ष को विश्वसनीय मानने के लिए क्या मानना चाहिए?[9] दूसरे शब्दों में आवश्यकता सत्य के निकषों की है सत्य के "दार्शनिक सिद्धान्तों" की नहीं। इस प्रकार सत्य के सम्बन्ध में उसका मत शुभ

के समान है। हमें यह नहीं पूछना चाहिए कि शुभत्व क्या है या 'शुभ' का अर्थ क्या है बल्कि यह पूछना चाहिए कि शुभ के निकष क्या हैं? 'यह शुभ है' कहने के लिए अच्छे तर्क क्या हैं।

टूलमिन ने अपने विचारों को स्पष्ट करने के लिए एक शब्द-खेल का उदाहरण दिया है। वह कहता है कि बचपन में एक खेल खेला जाता था जिसका नियम था कि A अक्षर से आरम्भ होने वाले वाक्य बनाना। जैसे :

I love my love with an A, because She ıs artful.

I hate her with an A, because she ıs auch,

I take her to the Anchor,

And feed her on artichopes.

She comes from Aberdaen.

And her name is Agnes Anstruther.

इस खेल के नियमों के अनुसार, ' Lovıng-With-an- या 'hating-wıth -an-A' के लिए केवल कुछ संभावित तर्क दिये जा सकते हैं। हम यह तर्क नहीं दे सकते कि वह 'bashful' या 'comıe' है। इन्हें बुरे तर्क माना जाएगा। कौन से तर्क अच्छे हैं कौन बुरे हैं, इसका निर्णय खेल के नियमों के अनुसार ही होगा।[10] इसी प्रकार नैतिक तर्कना की प्रक्रिया में भी कुछ तर्क स्वीकार किए जा सकते हैं, कुछ नही। हमें यह देखना चाहिए कि नैतिक तर्कना वास्तव में किस प्रकार की जाती है। इस प्रक्रिया से बाहर जाकर प्रागुनभविक रूप से इसके सम्बन्ध में किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन गलत एवं भ्रामक है।

नैतिक तर्कना का स्वरूप

नैतिक निर्णयों के सत्य एवं असत्य तथा नैतिक तर्कों की वैधता पर विचार करने के पश्चात् नैतिक तर्कना के स्वरूप का विवेचन करना आवश्यक है। टूलमिन के अनुसार यही नैतिक

दर्शन का मूल प्रश्न है। उसके अनुसार सर्वाधिक महत्व इस प्रश्न का है कि हम किस प्रकार के तर्कों को नैतिक निर्णय के लिए अच्छे तर्क के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। वह कहता है कि क्या हम मानवीय परिस्थितियों तथा क्रियाओं के ज्ञान के आधार पर ऐसे प्रासंगिक तर्कों की खोज कर सकते हैं जो हमारे कर्मों को नैतिक रुप से उचित या अनुचित सिद्ध कर सकें। इसके लिए सर्व प्रथम यह जानना आवश्यक है कि 'तर्क' से क्या तात्पर्य है। अतः वह प्रथम तर्क के स्वरूप की व्याख्या करता है। यदि तर्क के अर्थ को ठीक से समझ लिया जाय तो नैतिक तर्कना से सम्बन्धित समस्या का समाधान सरलता से किया जा सकता है। उसके अनुसार तर्कना ऐसी प्रक्रिया है जो वस्तु परक एवं निर्वैयक्तिक है। यह किसी व्यक्तिके निजी विचारों या विश्वासों पर निर्भर नहीं है। तर्क वह है जो वस्तुपरक रूप से किसी निर्णय की पुष्टि करता है तथा जिसके फलस्वरूप हम उस निर्णय को स्वीकार करते हैं। वस्तुनिष्ठता तर्क की अनिवार्य विशेषता है। इस विशेषता के आधार पर तर्क की व्याख्या करते हुए वह लिखता है:

"जब हम किसी कथन की सत्यता अथवा किसी तर्क की प्रामाणिकता की बात करते हैं तो हम ऐसे तत्व को जानना चाहते हैं जो इस बात पर विचार किए बिना उस कथन या तर्क पर लागू होता है कि उस पर कौन विश्वास करता है।- - - किसी तर्क की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में निर्णय करने के लिए हम इस तथ्य पर निर्भर नही रह सकते कि अमुक व्यक्ति उसे उचित मानता है। तर्क ऐसा होना चाहिए जो स्वयं स्वीकार करने योग्य हो और जिसके आधार पर हम उससे निकलने वाले निष्कर्ष में विश्वास कर सकें।"[11] नैतिक निर्णयों के समर्थन में दिए जाने वाले तर्कों के पूर्व संक्षेप में इन निर्णयों के अर्थ का ज्ञान आवश्यक है। वह नैतिक निर्णयों को वर्णनात्मक कथनों तथा वैज्ञानिक कथनों से पूर्णतः भिन्न मानता है। उसका विचार है कि वर्णनात्मक कथनों के विपरीत इन निर्णयों का उद्देश्य हमारे आचरण को प्रभावित करना होता है। ये निर्णय किसी तथ्य का वर्णन करने के लिए नहीं, बल्कि हमारे भावी आचरण में

परिवर्तन करने के उद्देश्य से दिए जाते है। नैतिक निर्णयों के स्वरूप के विषय में वह वर्णनात्मक सिद्धान्तों की अपेक्षा संवेगवाद को अधिक संतोष जनक मानता है। वह कहता है:

"नैतिक अवधारणायें स्वयं वक्ता में अथवा उसके चतुर्दिक् संसार में विद्यमान किसी वस्तु की ओर संकेत नही करती"[12]

वह मानता है कि वैज्ञानिक निर्णयों का कार्य मनुष्य की भावी प्रत्याशाओं को परिवर्तित करना है। इसके विपरीत नैतिक निर्णयों का कार्य मनुष्य की भावनाओं एवं उसके आचरण में परिवर्तन करना है।[13] किन्तु वह यह नहीं मानता कि नैतिक निर्णय वक्ता के संवेगों की अभिव्यक्तियाँ हैं। जो प्रतिज्ञप्ति न होने के कारण न सत्य है न असत्य। न वह यह मानता है कि मनुष्य के आचरण पर पड़ने वाले प्रभाव का कारण शब्दों का संवेगात्मक अर्थ है।

अब प्रश्न है कि टूलमिन के अनुसार नैतिक तर्कों का स्वरूप क्या है? वह कहता है कि सभी नैतिक तर्क एक ही प्रकार के नहीं होते। वह मानता है कि कुछ तर्क मनुष्यों के विशेष कर्मों से सम्बन्धित होते हैं, और कुछ तर्क आचरण के सामान्य नियमों एवं जीवन पद्धतियों से। इसी आधार पर टूलमिन ने नैतिक तर्कों का विभाजन दो प्रकारों में किया है। प्रथम वर्ग में वे तर्क आते हैं जो विशेष कर्मों से सम्बन्धित नैतिक निर्णयों की पुष्टि करते हैं। इन्हें वह 'कर्तव्यमूलक तर्क' कहता है। दूसरे वर्ग में वे तर्क आते हैं जिनके द्वारा आचरण विषयक सामान्य नियमों एवं जीवन पद्धतियों से सम्बन्धित नैतिक नियमों को उचित या अनुचित सिद्ध किया जाता है। इन तर्कों को वह "मनुष्यों के हित से सम्बन्धित तर्क" कहता है।

पहले हम प्रथम प्रकार के तर्कों को ले। टूलमिन के अनुसार नैतिक तर्कना के कुछ मामले बिल्कुल सीधे एवं सरल है। कभी कभी जब किसी कर्म के विषय में यह संशय होता है या प्रश्न उठाया जाता कि वह नैतिक दृष्टि से उचित है या नहीं तो इसका समाधान करने के लिए हमें केवल यह देखना है कि यह स्वीकृत नैतिक नियमों के अनुकूल है या नहीं। इस स्थिति में कर्म का औचित्य सिद्ध करने के लिए केवल तथ्यात्मक वर्गीकरण की आवश्यकता है।[14] इस प्रकार की नैतिक तर्कना का प्रारूप इस प्रकार है:

अ ब है

इसलिए अ उचित है।

इस युक्ति में आधार वाक्य से निष्कर्ष इस सिद्धान्त के आधार पर निकलता है कि जो भी ब है नैतिक रूप से उचित है एवं यह सिद्धान्त नैतिक प्रथाओं में स्वीकृत है। यहाँ 'अ उचित है' 'अ व है' से इन निर्णय के अर्थ के आधार पर नही निकलता। 'अ व है' टूलमिन के अनुसार 'अ उचित है' का केवल तर्क या कारण है न कि इसके अर्थ का अवयव। 'अ का उचित होना' 'अ के ब होने से' नैतिक रूप से निकलता है, अर्थात् यह स्वीकृत नैतिक नियमों या प्रथाओं पर निर्भर है। किन्तु टूलमिन ने अभी तक यह नहीं बताया कि नैतिक निर्णय एवं इसके तर्क का सम्बन्ध तार्किक सम्बन्ध है। और वह इसे तब तक नहीं स्पष्ट कर सकता जब तक वह यह न स्वीकार करे कि नैतिक नियम या प्रथा तार्किक नियम है। किन्तु ऐसा मानना समस्यात्मक है। इसका अर्थ होगा तार्किक नियमों एवं नैतिक विषय-वस्तु का अन्तर समाप्त कर देना। नैतिक नियम या प्रथा केवल उन नियमों का समूह है जिनके द्वारा मानवीय आचरण का नियन्त्रण किया जाता है, किन्तु इसके विपरीत तार्किक नियम केवल परोक्ष रुप से आचरण का नियंत्रण कर सकता है, अर्थात् आचरणसम्बन्धी भाषा का नियंत्रण करके। अतः जैसा कर्नर[15] कहता है ;कौन सी नैतिक युक्तियॉ वैध है यह स्वयं नैतिक निर्धारण का विषय हो जाता है। वैध अनुमान के नियम उचित कर्मों के नियम से भिन्न है। किन्तु इस आधार पर टूलमिन का सिद्धान्त स्टीवेंसन के समान नहीं माना जा सकता है एवं कर्नर की व्याख्या उपयुक्त प्रतीत नहीं होती। प्रथा द्वारा स्वीकृत आचरण के नियमों को मात्र प्रेरक परिभाषा कह कर उसके अनुमान के प्रारूप को मनोवैज्ञानिक स्वरूप देना निश्चित रूप से गलत है।

वास्तव में टूलमिन का नैतिक तर्कना का प्रथम प्रारूप इस मान्यता पर निर्भर है कि नैतिकता में एक ''विशिष्ट अनुमान के नियम'' का प्रयोग होता है। इस प्रारूप को एक भिन्न रूप में लिखा जा सकता है एवं टूलमिन के प्रारूप को लुप्तावयव अनुमान कहा जा सकता है। इसका रूप है:

जो भी ब है उचित है

अ ब है

इसलिए अ उचित है

इस रूप में देखने पर टूलमिन की युक्ति सामान्य युक्तियों के समान हो जाती एवं इसे तार्किक रूप से वैध मानना पड़ेगा। फिर टूलमिन ने इसे क्यों नही स्वीकार किया? टूलमिन का दावा था कि अनेकों नैतिक युक्तियां इतनी सरल नही होती। इसका कारण यह है कि अनेक प्रस्ताविक कर्म सीधे सरल रूप में स्वीकृत नैतिक प्रथाओं या नियमों के अन्तर्गत नहीं आते। इनका औचित्य प्रथाओं या नियमों के अन्तर्गत नहीं आते। इनका औचित्य प्रथाओं या नियमों के द्वारा सिद्ध नहीं होता। टूलमिन का मत है कि इन कर्मों का औचित्य सिद्ध करने के लिए अनुमान के दूसरे प्रारूप का प्रयोग अपेक्षित है। इन स्थितियों में प्रस्तावित कर्म की सामाजिक गुणवत्ता पर विचार करना आवश्यक है। यह विचार नीतिशास्त्र के कार्य पर निर्भर है। हमें इस कार्य के सन्दर्भ में प्रस्तावित कर्म के परिणाम के गुणों पर ध्यान देना पड़ेगा। टूलमिन के अनुसार नीतिशास्त्र का कार्य है " व्यक्तियों के हितों का सामंजस्य"[16]। अतः नैतिक तर्कना का दूसरा प्रारूप है:

अ से सामाजिक सामंजस्य स्थापित होता है

अतः अ उचित है

यहाँ अनुमान का प्रासंगिक नियम सामाजिक सामंजस्य का सिद्धान्त है: "जो भी सामाजिक सामंजस्य स्थापित करता है उचित है।"

इस नियम को हम किस अर्थ में ले सकते हैं? क्या यह भी वचन पालन, सत्य बोलना आदि के समान नैतिक नियम है? यदि ऐसा है तो टूलमिन की युक्ति केवल लुप्तावयव अनुमान है एवं इसे इस प्रकार लिखा जा सकता है:

जो भी सामाजिक सामंजस्य स्थापित करता है उचित है

अ से सामाजिक सामंजस्य स्थापित होता है

इसलिए अ उचित है

किन्तु टूलमिन सामाजिक सामंजस्य को मुख्य आधार वाक्य मानने के पक्ष में नहीं है। वह सामाजिक सामंजस्य को एक अन्य नैतिक नियम नहीं मानता। उसका दावा है कि यदि किसी कर्म का औचित्य इस आधार पर सिद्ध किया जाता है कि यह वादा पूरा करने का कार्य है तो इसका फिर से औचित्य यह कर नहीं किया जा सकता कि इससे सामाजिक सामंजस्य स्थापित होता है। इस दूसरे प्रारूप से नैतिक नियम या सामाजिक व्यवहार का औचित्य सिद्ध किया जाता है, किसी विशेष कर्म का नहीं। टूलमिन के अनुसार दो प्रकार की नैतिक तर्कनायें होती है एवं प्रत्येक का अपना तार्किक निकष होता है। एक में तार्किक निकष नैतिक निकष होते हैं। दूसरे में तार्किक निकष हमारे सिद्धान्तों एवं सामान्य व्यवहारों की सामाजिक गुणवत्ता है।

किन्तु टूलमिन का मत यहॉ बहुत स्पष्ट नही है। उसका यह भी दावा है कि विशेष कार्यों के लिए भी युक्तियॉ होती है जिनमें कोई सिद्धान्त निहित नही होता और इस बात का निर्णय कि कोई कार्य उचित है नहीं इस आधार पर किया जाता है कि क्या इस कार्य के ऐसे परिणाम हैं जिनमें दूसरे की आवश्यकता की पूर्ति होती है।[17] इसी तरह उसका दावा है कि कुछ निर्णायक स्थितियाँ होती है जिनमे दोनो प्रकारो की तर्कना का भेद समाप्त हो जाता है। इन स्थितियों में किसी विशेष कर्म से सम्बन्धित लम्बित निर्णय एक सिद्धान्त का विषय हो जाता और मामला केवल उस विशेष कर्म तक सीमित न हो कर सिद्धान्त या सामाजिक व्यवहार के औचित्य का हो जाता है।

टूलमिन के सिद्धान्त की दो व्याख्यायें संभव है। एकः टूलमिन का यह तात्पर्य है कि दूसरे प्रकार की नैतिक तर्कना में किसी सिद्धान्त का प्रयोग नहीं होता तथा सारा मामला कर्मों के परिणामों पर निर्भर होता है। किन्तु तब प्रश्न उठता है कि परिणामों की किन विशेषताओं के आधार पर परिणाम नैतिक निर्णय के लिए प्रासंगिक माने जा सकते हैं? और इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए कुछ सिद्धान्तों की आवश्यकता रहती है। दूसरी व्याख्या के अनुसार दोनों

प्रकार की तर्कनाओं में सिद्धान्त निहित होते हैं किन्तु ये सिद्धान्त भिन्न प्रकार के होते हैं। कर्नर[18] के अनुसार दूसरे प्रकार की तर्कना में सामाजिक सामंजस्य के सिद्धान्त का प्रयोग द्वितीय स्तर के सिद्धान्त के रूप में होता है। टूलमिन के अनुसार यह सिद्धान्त ''नैतिक भाषा के कार्य'' का वर्णन है। इसी से निर्णय ''नैतिक निर्णय'' माना जाता है, ''नैतिक तर्कना की सीमा निर्धारित होती है'' एवं नैतिकता का ''क्षेत्र या रूप रेखा निश्चित होती है।'' इस व्याख्या के आधार पर कर्नर द्वितीय प्रकार की तर्कना को अधोलिखित रूप में व्यक्त करता है।[19] निर्णायक स्थिति में युक्ति के दो चरण है:की।

1. अ ब है

इसलिए अ उचित है

इस अनुमान का आधार यह सिद्धान्त है कि जो भी ब है उचित है। पुनः इस सिद्धान्त का औचित्य इस युक्ति से होता है:

2. क्ष सामाजिक सामंजस्य की स्थापना करता है

इसलिए क्ष उचित है

यह अनुमान एक द्वितीय स्तर के सिद्धान्त पर निर्भर है: जो भी (सिद्धान्त या व्यवहार) सामाजिक सामंजस्य की स्थापना करता है उचित है।

यहाँ टूलमिन का विचार है कि सिद्धान्तों एवं निर्णायक स्थितियों में युक्तियों का स्वरूप पूर्णतः भिन्न है। यहाँ प्रथम स्तरीय सिद्धान्त उपलब्ध नही है एवं मुख्य आधार वाक्य का प्रयोग करके अनुमान को विश्लेषणात्मक नहीं बनाया जा सकता। हम आधार वाक्य से निष्कर्ष सामाजिक सामंजस्य के सिद्धान्त को द्वितीय स्तर का अनुमान का नियम मानकर निकाल सकते हैं। किन्तु सामंजस्य के नियम को द्वितीय स्तर का नियम मानने का क्या अर्थ है? इसकी खोज कैसे होती है? और इसे ही क्यों माना जाय, किसी अन्य नियम को क्यों नहीं?

वास्तव में यदि यह मान भी लिया जाय कि नैतिक तर्कना एक ऐसा भाषा-खेल है जिसमें नैतिक निर्णयों की सत्यता का निर्णय इस भाषाई खेल के नियमों से होता है तब भी यह कहा जा सकता है कि टूलमिन के नियम सही नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता कि सामाजिक सामंजस्य को नैतिक तर्कना का सर्वोच्च नियम न मानना नैतिकता से बाहर हो जाना है। नैतिक भाषा का तार्किक विश्लेषण करने के नाम पर टूलमिन ने या तो कुछ प्रथाओं का अनुभवात्मक सामान्यीकरण किया है या अपने सिद्धान्त का अनुमोदन प्रस्तावित किया है। टूलमिन ने जिस खेल का उदाहरण दिया है उसके विषय में वह कहता है कि इस खेल के नियम मनमाने हैं एवं स्वयं खेल महत्वहीन है। किन्तु वह मानता है कि न तो नैतिकता महत्वहीन है, न इसके नियम मनमाने हैं। नैतिकता के उद्देश्य एवं नैतिक तर्कना के नियमों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। मूर एवं स्टीवेंसन के विरोध में वह कहता है कि तर्कना का स्वरूप अत्यन्त व्यापक है:

''तर्कना का प्रत्येक प्रकार, प्रत्येक प्रकार का वाक्य, और (यदि ध्यान दिया जाय) प्रत्येक वाक्य का अपना तार्किक निकष है जिसकी खोज इसके निजी विशिष्ट प्रयोग के परीक्षण से हो सकती है।''[20] यदि नैतिक भाषा का प्रयोग अवर्णनात्मक रूप से होता है तो इसे नैतिक भाषा का तार्किक रूप कहा जा सकता है और इसका उल्लंघन संभव नहीं होगा। किन्तु यदि नैतिक भाषा के प्रयोग की बात अन्य उद्देश्यों के लिए की जाती है तो इसका उल्लंघन भाषा के तार्किक रूप का उल्लंघन नहीं माना जा सकता। टूलमिन के अनुसार नैतिक भाषा का कार्य व्यक्तियों के हितों में सामंजस्य लाना है। पर यहाँ दो बाते कही जा सकती है। (1) नैतिक भाषा का अन्य कार्य संभव है। टूलमिन ने यह सिद्ध नहीं किया है कि नैतिक नियमों का कार्य केवल सामाजिक सामंजस्य स्थापित करना है। (2) यदि मान लिया जाय कि नैतिक भाषा या नैतिकता का उद्देश्य सामाजिक सामंजस्य है तब यह नहीं कहा जा सकता कि कोई व्यक्ति या कुछ व्यक्ति ऐसे उद्देश्यों का अनुसरण नही कर सकते जिसे अधिकतर व्यक्तियों की सहमति प्राप्त है। यथास्थिति का विरोध नैतिकता का विरोध नहीं है। इसी प्रकार हम कह सकते हैं। कि मार्ग दर्शन करना या परामर्श देना, प्रशंसा करना, निन्दा करना, अनुमोदन करना आदि

नैतिक भाषा के कार्य हैं। किन्तु सामाजिक सामंजस्य नैतिक भाषा का वाहय प्रयोजन ही हो सकता है। इतना ही नहीं वर्णनात्मक या वैज्ञानिक भाषा से यह उद्देश्य भली भांति पूरा हो सकता है।

प्रश्न यह है कि टूलमिन किस आधार पर यह मानता है कि नैतिक तर्क सामाजिक सामंजस्य से सम्बन्धित है? उसका दावा है कि यह निष्कर्ष नैतिक भाषा के कार्य या उद्देश्य के अध्ययन से निकलता है। यह सत्य है कि एक अर्थ में भाषा का तार्किक स्वरूप उसके कार्य या उद्देश्य से निर्धारित होता है। उदाहरण के लिये "अ उचित है" का प्रयोग परामर्श, आदेश, अनुमोदन आदि के लिये किया जाता है। किन्तु यदि मैं; उदाहरण के लिये अनुमोदन का कार्य करता हूँ तो केवल भाषाई या तार्किक नियम पर्याप्त नहीं है। यह भी देखना पड़ेगा कि अनुमोदन के लिए भाषाई नियमों के साथ भाषेतर शर्तों का भी पालन किया गया है या नहीं। अन्य शब्दों में यह भी देखना पड़ेगा कि अ का अनुमोदन किया जाय या ब का या अन्य किसी का। इसका उत्तर देने के लिए भाषाई नियमों के परे जाना पड़ेगा। जब टूलमिन कहता है कि सामाजिक सामंजस्य द्वारा नैतिक सिद्धान्तों का औचित्य सिद्ध होता है तो वह यही करता है। किन्तु इसका निर्णय करते समय हमें आचरण के विषय पर विचार करना पड़ेगा। हेअर की भाषा में: यह विषय-वस्तु का प्रश्न है, केवल तार्किक नियमों का नहीं।

यह स्पष्ट है कि 'अ शुभ है' का कार्य या उद्देश्य अ का अनुमोदन करना, प्रशंसा करना, मूल्यांकन करना या अ का चुनाव करने के लिए कहना आदि है। किन्तु अ के चुनाव से सामाजिक सामंजस्य होगा या नहीं यह दूसरा प्रश्न है, और हमें अ का अनुमोदन तभी करना चाहिए जब अ से सामाजिक सामंजस्य स्थापित हो यह पूर्णतः भिन्न मत है। हम सामाजिक सामंजस्य की वृद्धि के लिए अ का अनुमोदन कर सकते हैं। किन्तु यह केवल आपातिक संभावना है। हम यह नही कह सकते कि अ के अनुमोदन के लिए सामाजिक सामंजस्य अनिवार्य है। इसे स्वीकार करना एक नैतिक प्रस्तावना है, नैतिक भाषा के प्रयोग की अनिवार्य शर्त नहीं। 'वह बुरा मनुष्य है' का प्रयोग उस मनुष्य की निन्दा के लिए किया जाता है, किन्तु

निन्दा का कारण केवल सामाजिक सामंजस्य में बाधा डालना नहीं है। हम अनेकों कर्मों के लिए उसकी निन्दा कर सकते हैं। टूलमिन का सिद्धान्त कि नैतिक भाषा का कार्य अथवा उद्देश्य सामाजिक सामंजस्य की स्थापना या वृद्धि है नैतिक भाषा का तार्किक कार्य नहीं है। स्पष्ट है कि यह मत या तो केवल मनुष्य वास्तव में क्या चाहते है इसका सामान्यीकरण है या एक नवीन प्रस्ताव। पहला विकल्प केवल यह बताता है कि मनुष्य प्रायः इसी आधार पर कर्मों या नियमों के औचित्य का निर्धारण करते है। दूसरा विकल्प नैतिक शब्दों एवं नियमों के प्रयोग के लिए एक मानक निकष देता है। किन्तु टूलमिन न इसके लिये कोई तर्क नही दिया है। वह इसे केवल मान लेता है। किसी भी विकल्प को नैतिक भाषा के तार्किक स्वरूप का सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता।

टूलमिन ने अर्थ के निर्देशात्मक एवं मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को न मानकर विट्गेंस्टाइन के प्रयोग सिद्धान्त को स्वीकार किया है। इसके अनुसार किसी शब्द या वाक्य का अर्थ उसका वास्तविक सन्दर्भों में प्रयोग है। प्रयोग के सन्दर्भ में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है कि किस प्रयोजन से शब्द का प्रयोग किया जा रहा है। इस प्रकार नैतिक शब्दों एवं वाक्यों का अर्थ नैतिक भाषा-खेल के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। भाषा-खेल के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। भाषा-खेल में भाषाई एवं भाषेतर पक्षों का समान महत्व होता है। किन्तु टूलमिन अपना सिद्धान्त प्रस्तुत करते समय भाषाई नियमों से जो कुछ इन नियमों में निहित है उससे अधिक प्राप्त करना चाहता है। उदाहरण के लिए वैज्ञानिक भाषा-खेल में तार्किक नियमों के अतिरिक्त अन्य नियमों की आवश्यकता पड़ती है। यही बात नैतिक भाषा के लिए भी सत्य है। केवल भाषाई नियमों से नैतिकता की व्याख्या नहीं हो सकती। किन्तु भाषेतर नियम, जहाँ तक नैतिकता का प्रश्न है, इतने विविध एवं अस्पष्ट है कि इन्हें एक सूत्र में बांधना संभव नहीं है। कुछ नैतिक दार्शनिकों के यही प्रयास किया है। टूलमिन भी इसका अपवाद नहीं है। उसने सामाजिक सामंजस्य के सूत्र में इन प्रयोजनों को बांधने का प्रयास किया है। नैतिक निर्णय नियामक होते हैं; किन्तु टूलमिन ने अच्छे तर्कों के सिद्धान्त में इस पक्ष की पूर्ण उपेक्षा किया है। वह इस

तथ्य से परिचित है।[21] किन्तु अच्छे तर्कों के विवेचन में वह इसे भूल जाता है। 'उचित' का अर्थ "प्राप्त हितों में न्यूनतम संघर्ष" नही है, तथा 'शुभ' (अच्छा) का अर्थ 'सामंजस्य पूर्ण संतुष्टि" नहीं है। अतः स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि "हितों का सामंजस्य" एवं "सामंजस्य पूर्ण संतुष्टि" के प्रयोग वाले कथन उचित एवं शुभ से सम्वन्धित नैतिक निर्णयों के लिए अच्छे तर्क किस प्रकार है? इनका उचित एवं शुभ से क्या सम्बन्ध है? क्यों सामंजस्य एवं संतुष्टि को नैतिक शब्दों के प्रयोग का निकष या मानदण्ड माना जाए? अन्य संप्रत्यय इनके निकष क्यों नहीं हैं?

टूलमिन का विवेचन समाज वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सत्य हो सकता है। यदि व्यक्तियों के हितों के संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में कर्तव्य का प्रश्न उठता है तो यह माना जा सकता है कि हितों में सामंजस्य सामाजिक नैतिकता का प्रमुख उद्देश्य है। यह भी कहा जा सकता है कि सामान्यतः समाज में स्वीकृत नियमों एवं आदर्शों के द्वारा विशेष कार्यों के औचित्य का निर्धारण होता है। किन्तु ये सभी तथ्य, यदि तथ्य हैं, नैतिक भाषा के तार्किक रूप के भाग नहीं हैं। यदि कोई समाज पूर्णतः उपयोगितावादी स्थिति में तभी यह कहा जा सकता है कि नैतिकता का पूर्ण निर्धारण हितों के सामंजस्य के सिद्धान्त से होता है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि जो समाज उपयोगितावादी नहीं हैं उनमें नैतिक शब्दों का प्रयोग ही नहीं हो सकता, या उनमें नैतिकता असंभव है।

टूलमिन कहता है कि उसका विवेचन "नीति शास्त्र का सिद्धान्त" नहीं है।[22] उसका कहना है कि वह केवल "उन स्थितियों का वर्णन दे रहा है जिनमें हम वास्तव में नैतिक निर्णय देते हैं, जिनमें निर्णय 'नैतिक निर्णय' कहा जाता है, जिनमें युक्तियों का प्रयोग किया जाता है।[23] उसका मत है कि वह केवल तथ्यों का वर्णन करता है, कोई सिद्धान्त नहीं दे रहा है। वह नैतिक शब्दों के प्रयोग से सम्बन्धित तथ्यों को स्पष्ट करना चाहता है। उसका विश्वास है कि इन प्रयोग-सम्बन्धी तथ्यों से स्पष्ट होता है कि नैतिक भाषा का उद्देश्य एवं कार्य हितों का सामंजस्य है। किन्तु क्या यह वास्तविक तथ्य है? क्या यह तथ्य सदैव वांछनीय है? क्या

टूलमिन हेअर के आदर्शवादी व्यक्तियों की संभावना को अस्वीकार करेगा? वास्तव में टूलमिन का सिद्धान्त एक नियामक सिद्धान्त है, केवल नैतिक भाषा एवं युक्तियों के स्वरूप का अध्ययन नहीं। वह कहता है :

"केवल एक ही सन्दर्भ है जिसमें 'कर्तव्य' का संप्रत्यय पूर्णतः स्पष्ट है और वह है सामुदायिक जीवन।"[24]

उसका मत है कि नैतिक संप्रत्ययोंजैसे कर्त्तव्य एवं हितों के सामंजस्य में निकट तार्किक सम्बन्ध है।"[25]

किन्तु, और वह स्वयं मानता है, कि नैतिक शब्दों का यह अर्थ नहीं है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सामुदायिक सामंजस्य अनेक निकषों में केवल एक निकष हो सकता है। उसका यह दावा कि नैतिक संप्रत्ययों एवं नियमों की व्याख्या केवल सामुदायिक सामंजस्य के द्वारा हो सकती है और वह भी नैतिक भाषा के कार्य एवं उद्देश्य के रूप में निश्चित रूप से गलत है। अधिक से अधिक इसे उसका अपना निजी प्रस्ताव कहा जा सकता है।

अन्त में हम पुनः टूलमिन द्वारा दिए गये नैतिक तर्कना के प्रकारों का संक्षेप में विवेचन करेंगे। उसका मत है कि किसी समुदाय के अन्तर्गत् ही नैतिक प्रश्न उठते है। जो नैतिक विवाद किसी विशेष कर्म से सम्बन्धित होते हैं उनमें अधिकतर का समाधान उस समुदाय में प्रचलित एवं स्वीकृत नैतिक नियमों एवं प्रथाओं के द्वारा हो जाता है। यदि प्रश्न उठता है कि वादा पूरा करना चाहिए या नहीं तो प्रचलित प्रथा के आधार पर निर्णय दिया जा सकता है। यदि इस समुदाय में वादा निभाना उचित माना जाता है तो वादा निभाना उचित है। निश्चित रूप से इस रूप में अनेकों कर्मों का औचित्य सिद्ध किया जाता है और हम सदैव अन्तिम औचित्य का प्रश्न नहीं उठाते। किन्तु टूलमिन की विवेचना में कुछ प्रश्न उठते हैं। कोई व्यक्ति प्रचलित प्रथा का विरोध कर सकता है। दो कर्तव्यों में संघर्ष की स्थिति आ सकती है। टूलमिन के अनुसार प्रचलित प्रथाओं पर प्रश्न उठाना उचित नहीं है। किन्तु नैतिकता की दृष्टि से इस उत्तर को संतोषजनक नहीं कहा जा सकता। वह यह भी मानता है कि जब दो

कर्त्तव्यों में विरोध हो और दोनों का एक साथ पालन करना संभव न हो तो दोनों के परिणामों पर विचार करना चाहिए।[26] हमें उसी कर्तव्य को करना चाहिए जिससे कम से कम बुराई उत्पन्न हो। किन्तु जैसा मूर ने दिखाया है सभी कर्मों के दूरस्थ ही नहीं समीपस्थ परिणामों का आकलन कठिन है। और जो दार्शनिक परिणामवादी नही है उन्हें यह समाधान उपयुक्त प्रतीत नहीं होगा। अन्त में टूलमिन का यह मत भी विवादास्पद है कि नैतिक नियमों का प्रयोग आधार वाक्य के रूप में न करके उसे केवल मूल्यात्मक अनुमान के नियम के रूप में लिया जाए। टूलमिन इन नियमों का प्रयोग आधार वाक्य के रूप में संभवतः इसलिए नही करता कि ऐसा करने पर इसके औचित्य का भी प्रश्न उठेगा। यह वह प्रचलित नियमों पर प्रश्न नहीं उठाना चाहता।

नैतिक नियमों के सन्दर्भ में भी कभी-कभी प्रश्न उठाना आवश्यक हो जाता है। वह कहता है :

"यदि किसी समाज के आचार का विकास हो रहा है तो आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक या मनोवैज्ञानिक स्थिति में परिवर्तन के कारण इस समुदाय के व्यक्ति वर्तमान प्रथाओं को अनावश्यक रूप से सीमित अथवा खतरनाक रूप से शिथिल मान सकते है।.....यदि वास्तव में यह मानने का पर्याप्त कारण है कि प्रस्तावित परिवर्तन के परिणाम वर्तमान कष्टों का निराकरण कर सकेंगे तो नैतिकता की दृष्टि से इस परिवर्तन के उचित कारण हैं।"[27]

किन्तु वह यह भी मानता है कि कुछ ऐसे नियम होते हैं जिनमें परिवर्तन की कोई संभावना नहीं होती। इन नियमों में परिवर्तन वांछनीय भी नहीं है। टूलमिन के अनुसार ऐसे नियम सामाजिक प्राणी होने के कारण सभी समुदायों के मनुष्यों के लिए हितकारी होते हैं। वह कहता है :

"यद्यपि तार्किक दृष्टि से किसी भी सामाजिक प्रथा के औचित्य का विवेचन सार्थक है, फिर भी कुछ प्रथायें सर्वदा ऐसी रहेंगी जिनके औचित्य के विषय में कभी भी प्रश्न नहीं उठाया जा सकता। उदाहरण के लिए हम सोच भी नहीं सकते कि वादा पूरा करने या वचन पालन करने

के स्थान पर किसी अन्य प्रथा को इतना ही प्रभावशाली माना जा सके। अतः नैतिकता की सर्वाधिक उन्नत अवस्था में भी वचन का पालन करना उचित माना जाएगा।''[28] स्पष्ट है कि वह कुछ प्रथाओं का सभी स्थितियों में समर्थन करता है।

नैतिक प्रथाओं के विषय मे वह एक अन्य प्रश्न भी उठाता है। क्या भिन्न-भिन्न जीवन पद्धतियो में पाई जाने वाली समान प्रतीत होने वाली प्रथाओं की तुलना हो सकती है? इसका वह स्पष्ट रूप से नकारात्मक उत्तर देता है। वह कहता है कि एक समुदाय में विद्यमान विभिन्न प्रथाओं की तुलना हो सकती है, किन्तु भिन्न-भिन्न समुदाय के प्रथाओं की नही। उसका विश्वास है कि भिन्न-भिन्न समुदायों के प्रथाओं की तुलना निरर्थक है। केवल विभिन्न पद्धतियों की तुलना हो सकती है। पर इस सम्बन्ध में टूलमिन का मत है कि इस प्रश्न का वस्तुनिष्ठ एवं निर्वैयक्तिक उत्तर संभव नहीं है। इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं ही निर्णय लेना पड़ेगा एवं इस निर्णय का वस्तुनिष्ठ, तार्किक औचित्य संभव नहीं है। इस प्रसंग में एअर का स्मरण सहज ही हो जाता है। उसका भी मत था कि दो पृथक-पृथक संस्कृतियों से सम्बन्धित व्यक्ति सार्थक विवाद नहीं कर सकते, केवल अपने मूल्यों की श्रेष्ठता का दावा करते हुए दूसरे के लिए अश्लील शब्दों का ही प्रयोग कर सकते हैं। यह स्पष्ट है कि टूलमिन सम्पूर्ण मानव समाज की दृष्टि से नैतिकता या नैतिक तर्कना का विवेचन नही करता। हो सकता है यह संभव न हो, किन्तु बिना तर्क के इसका समर्थन भी नहीं किया जा सकता।

सन्दर्भ

1. टूलमिन, एस. ई., 'एन एक्जामिनेशन आफ द प्लेस आफ रीजन इन एथिक्स' पृ. 41 संक्षेप में रीजन इन एथिक्स'

2. वही, पृ० 46

3. वही, पृ० 38

4. वही, पृ० 52

5. वही, पृ० 42

6 वही, पृ० 44

7. वही, पृ० 57

8. वही, पृ० 72-74

9. वही, पृ० 74

10. वही, पृ० 81

11. वही, पृ० 71

12. वही, पृ० 78

13. वही, पृ० 130

14. वही, पृ० 144-46

15. कर्नर, जी. सी., 'द रेवोल्यूशन इन एथिकल थ्योरी' पृ. 103

16. वही, पृ० 148

17. वही, पृ० 147

18. कर्नर, जी. सी., 'द रेवोल्यूशन इन एथिकल थ्योरी'' पृ. 106

19. वही, पृ० 106-7

20. टूलमिन, 'एन एक्जामिनेशन आफ द प्लेस आफ रीजन इन एथिक्स' पृ० 83

21 वही, पृ० 224

22. वही, पृ० 160

23. वही, पृ० 160

24. वही, पृ० 133

25. वही, पृ० 133

26. वही, पृ० 146-48

27. वही, पृ० 149-50

28. वही, पृ० 150

आध्याय-6

नव्य प्रकृतिवाद

पिछले अध्यायों में प्रज्ञावाद, विंगवाद, परामर्शवाद एवं अच्छे तर्कों के सिद्धान्त के अनुसार नैतिक निर्णयों तथा नैतिक निर्णयों के पक्ष एवं विपक्ष में दिए जाने वाले नैतिक तर्कों के स्वरुप का विवेचन किया गया। इन सिद्धान्तों में सबसे अधिक संतोष जनक परामर्शवाद है। किन्तु इसमें भी कुछ कठिनाइयॉ है। इन्ही कठिनाइयों के कारण कुछ समकालीन दार्शनिकों ने एक अन्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। वास्तव में अभी भी इसका विधिवत सैद्धान्तिक स्वरूप निश्चित नहीं है। संवेगवाद या परामर्शवाद के समान इसे एक निश्चित, सुव्यवास्थित वाद नही कहा जा सकता। इसके समर्थकों में भावात्मक पक्ष को लेकर एक रूपता भी नही है। केवल परामर्शवाद के विरुद्ध युक्तियाँ देने में इनका उद्देश्य समान है। इसी कारण तदर्थ रुप में इस विचार के समर्थकों के लिए नव्य प्रकृतिवाद या वर्णनात्मकवाद जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इसका आरम्भ पी. टी. गीच से माना जा सकता है किन्तु इसके प्रबल समर्थक श्री मती फिलिपा फुट एव जी. जे वार्नाक हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य दार्शनिक भी हैं जिन्होनें यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि "है" एवं "चाहिए" में तार्किक अन्तर नहीं है तथा "है" से "चाहिए" का अनुमान किया जा सकता है।

नव्य प्रकृतिवाद के समर्थक कुछ अर्थों में प्राचीन प्रकृतिवाद के समान होते हुए भी कुछ अर्थों में उससे भिन्न हैं। प्रकृतिवाद नैतिक निर्णयों को पूर्णतः वर्णनात्मक कथन मानते हैं। वे इनमें मूल्यात्मक तत्व स्वीकार नहीं करते। उदाहरण के लिए विकासवादी नीतिशास्त्रियों के अनुसार 'अ शुभ है' का अर्थ है 'अ विकसित आचरण या अवस्था है'। दोनो अर्थ एवं कार्य की दृष्टि से समान हैं। तथ्यात्मक कथनों की भांति नैतिक निर्णय भी कुछ तथ्यों के वर्णन मात्र हैं। नैतिक भाषा का कार्य एवं उद्देश्य केवल तथ्यों का वर्णन करना है, उनका मूल्यांकन करना या परामर्श देना नहीं। इसके अनुसार नैतिक तर्कना भी साधारण आगमनात्मक या निगमनात्मक तर्कना है। इसकी अपनी कोई विशिष्टता नहीं है। किन्तु नव्य प्रकृतिवादियों की व्याख्या इससे भिन्न है। इनके अनुसार नैतिक निर्णय वर्णनात्मक हैं, किन्तु केवल वर्णनात्मक नही। नैतिक निर्णय मुख्य रुप से वर्णनात्मक हैं किन्तु इनमें मूल्यात्मक अर्थ भी होता है। संवेगवादियों एवं

परामर्शवादियों ने भी नैतिक निर्णयों में वर्णनात्मक एवं मूल्यात्मक अर्थ माना था। नव्य प्रकृतिवाद इस सन्दर्भ में दो बातों में भिन्न है। प्रथम, संवेगवाद एवं परामर्शवाद में मूल्यात्मक अर्थ को प्राथमिकता दी गई थी, किन्तु नव्य प्रकृतिवाद के अनुसार नैतिक निर्णयों मे वर्णनात्मक अर्थ मुख्य होता है तथा मूल्यात्मक अर्थ इस पर निर्भर होता है। इसी प्रकार संवेगवाद एवं परामर्शवाद में वर्णनात्मक एवं मूल्यात्मक अर्थों में स्पष्ट रूप से अन्तर करते हुए इन्हें पृथक् किया जा सकता है। किन्तु नव्य प्रकृतिवाद के अनुसार इन दोनों पक्षों में अन्तर नही किया जा सकता। द्वितीय, संवेगवाद के अनुसार मूल्यात्मक अर्थ केवल संवेगों, अनुभूतियों एवं अभिवृत्तियों की अभिव्यक्ति मात्र है। परामर्शवाद के अनुसार मूल्यात्मक अर्थ मूलतः परामर्शात्मक हैं। नव्य प्रकृतिवादियों के अनुसार मूल्यात्मक अर्थ में मूल्यों के विविध पक्ष सम्मिलित है। यह न केवल संवेग है न केवल परामर्श।

नव्य प्रकृतिवाद के अनुसार नैतिक निर्णयों में मुख्य रूप से वर्णनात्मक या संज्ञानात्मक अर्थ होता है एवं मूल्यात्मक अर्थ वर्णनात्मक अर्थ से स्वतंत्र न हो कर इसी पर निर्भर रहता है। नैतिक निर्णय जिन तथ्यों का वर्णन करते है वे अनिवार्यतः मनुष्य के सुख, दुःख, हित, अहित, इच्छाओं तथा आवश्यकताओं से सम्बन्धित होते हैं। जब हम कोई नैतिक निर्णय देते हैं तो उसका अन्तिम आधार मनुष्य से सम्बन्धित इन्हीं तथ्यों में खोजा जा सकता है। यदि मनुष्य में इच्छायें, आवश्यकतायें न होती, यदि प्रकृति में जो कुछ घटित होता है उसका मनुष्य से कोई सम्बन्ध न होता, यदि मनुष्य के हित या अहित का प्रश्न न होता तो नैतिकता भी संभव न होती। इन्हीं के कारण नैतिक निर्णय दिये जाते हैं।

नैतिक निर्णयों का समर्थन या खण्डन भी मनुष्य की इच्छा, आवश्यकता तथा हित के आधार पर ही संभव है। नैतिक तर्कना का आधार यही मानवीय तत्व है। जब किसी कर्म को शुभ या उचित कहा जाता है तो इसका अर्थ यही होता है कि यह कर्म मनुष्य की किसी आवश्यकता की पूर्ति करता है। जहाँ तक नैतिक तर्कना का प्रश्न है नव्य प्रकृतिवादियों का विचार है कि नैतिक निर्णयों को कुछ विशेष तथ्यात्मक कथनों से निगमित किया जा सकता है। वर्णनात्मक एवं नैतिक

कथनों में कोई अलंघ्य दूरी नहीं है। उदाहरण के लिए यदि हम जानते हैं कि कोई कर्म करने से मनुष्यों का हित होगा तो हम सामान्य परिस्थितियों में इस तथ्य से यह नैतिक निर्णय निगमित कर सकते हैं कि यह कर्म करना उचित है। यदि किसी कर्म से मनुष्यों को कष्ट पहुँचेगा तो हम इस आधार पर कह सकते है कि यह कर्म अनुचित है। नव्य प्रकृतिवादियों का मत है कि कुछ प्राकृतिक तथ्य नैतिक निर्णयों के उपयुक्त कारण या प्रमाण होते है। हम मनमाने ढंग से किसी कर्म को उचित या अनुचित नहीं कह सकते जैसा कि संवेगवादी एवं परामर्शवादी मानते हैं। कुछ स्थितियों को अच्छा एवं कुछ को बुरा मानने के लिए हम बाध्य हैं। हम प्रमाणों का स्वच्छन्दता पूर्वक चयन नही कर सकते।

पी. टी.गीच

'शुभ' का अर्थ

गीच ने नैतिक निर्णय या नैतिक तर्कना पर कुछ विशेष नहीं लिखा है। उसका केवल एक लेख ***गुड ऐण्ड इविल*** है जो ***एनालिसिस*** में 1956 में प्रकाशित हुआ था तथा फिलिपा फुट द्वारा संपादित ***'थ्योरीज आफ एथिक्स'*** में संकलित है। इसमें गीच ने मुख्य रूप से परामर्शवाद का खण्डन किया है। परामर्शवादियों को उसने आक्सफोर्ड नीतिशास्त्री कहा है। उसका मत है कि परामर्शवादी 'शुभ' या 'अच्छा' के प्रशंसात्मक अर्थ को मुख्य अर्थ मानकर वर्णनात्मक अर्थ की उपेक्षा करते हैं तथा प्रशंसात्मक अर्थ को चयन से अनिवार्यतः सम्बन्धित कर देते है। उदाहरण के लिए 'क पुस्तक अच्छी है' का अर्थ है 'क पुस्तक का चयन करो'। गीच के अनुसार 'अच्छा' कहने का अर्थ चयन करना नहीं है न प्रत्येक स्थिति में प्रशंसा करना उदाहरण के लिए "क अच्छा लुटेरा है" अथवा "ख अच्छा हत्यारा है" कहना क और ख की प्रशंसा करना। नही है।[1] इसी प्रकार वह कहता है कि किसी वस्तु को अच्छा कहना तब तक चयन की ओर नहीं ले जाता जब तक व्यक्ति उस वस्तु की इच्छा नही कता। 'अच्छा' का कर्म पर कोई निश्चित प्रभाव नही पड़ता। कुछ तथ्यात्मक कथन कर्म के लिए अधिक प्रभाव पूर्ण होते हैं।

गीच के अनुसार 'अच्छा' या 'शुभ' का मूलतः वर्णनात्मक अर्थ ही होता है। 'अच्छा चाकू', 'अच्छी कार', 'अच्छी कलम' आदि में 'अच्छा' का वर्णनात्मक अर्थ ही मुख्य है। यदि हम 'चाकू' का अर्थ जानते है तो हम यह भी जानते है कि अच्छा चाकू वह है जो अपना कार्य ठीक से करता है, जिसमें जंग जल्दी नही लगता, इत्यादि। यही अच्छा का अर्थ है। इसी प्रकार 'अच्छी कलम' से ऐसी कलम का बोध होता है जिससे ठीक एवं सरलता से लिखा जा सके। इस प्रकार वह हेअर के इस मत को नही मानता कि 'अच्छे' का वर्णनात्मक अर्थ न जानने पर भी हम इसके प्रशंसात्मक अर्थ को जान सकते है।

किन्तु अपने सिद्धान्त में निहित एक कठिनाई का उल्लेख गीच ने स्वयं किया है पर इसका कोई निश्चित उत्तर नही दिया है। वास्तव में यह कठिनाई किसी न रुप में सभी नव्य प्रकृतिवादियों में है। गीच कहता है कि यदि नैतिक निर्णय केवल वर्णनात्मक है तो उनसे कोई मार्ग दर्शन नही हो सकता। यदि 'क बुरा है' केवल वर्णनात्मक कथन है तो इससे यह सिद्ध नही होता कि 'क करना बुरा है'। लेख के अन्त में गीच ने संक्षेप में बताया है कि नैतिक निर्णयों के समर्थन में तर्क मनुष्य की इच्छाओं एवं आवश्यकताओं के द्वारा ही दिए जा सकते है। उदाहरण के लिए 'अ करना चाहिए' क्योंकि 'अ से अमुक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है'। यदि कोई पूँछता है कि अ क्यों करना चाहिए? तो हम यह उत्तर नही दे सकते कि "अ करना चाहिए"। इस प्रकार नव्य प्रकृतिवाद के बीज गीच के लेख में मिलते हैं।

गीच के लेख का उत्तर हेअर ने 1957 में *एनालिसिस* में प्रकाशित में लेख दिया है। हेअर ने कहा है कि वह स्वयं 'शुभ' से सम्बन्धित उन सभी विचारों को स्वीकार नहीं किया है जिन्हें गीच ने आक्सफोर्ड दार्शनिकों का मत कहा है।, हेअर यह नहीं मानता कि 'अ शुभ है' का अर्थ 'अ का चयन करें' हैं। 'शुभ' का वर्णनात्मक अर्थ सिद्ध करने के लिए गीच ने जिन उदाहरणों का प्रयोग किया है हेअर उन्हे पर्याप्त नही मानता। उसके अनुसार गीच ने केवल कार्यात्मक शब्दों का उदाहरण दिया है जैसे 'अच्छा चाकू', 'अच्छा डाक्टर', 'अच्छा वकील' आदि। इन सन्दर्भो में 'अच्छा' का प्रयोग निर्नैतिक अर्थ में हुआ है। कार्यात्मक शब्दों की यह

विशेषता है कि यदि हम वस्तु का कार्य जानते हैं तो उसी आधार पर यह भी जान जाते हैं कि अच्छा का क्या अर्थ है, और यह अर्थ मूलतः वर्णनात्मक है। हेअर को इसे स्वीकार करने में कोई कठिनाई नही है।[2] किन्तु यह बात आकार्यात्मक शब्दों के लिए प्रयुक्त 'अच्छा' के लिए सत्य नहीं है। अकार्यात्मक शब्द का प्रयोग जिनके लिए किया जाता है उनका कोई निश्चित कार्य नही होता। अतः इन शब्दों का अर्थ जान लेने पर हम यह नही कह सकते कि इन वस्तुओं का वर्णनात्मक अर्थ क्या है जिस पर 'अच्छा' का प्रशंसात्मक या मूल्यात्मक अर्थ निर्भर है। उदाहरण के लिए 'मनुष्य' अकार्यात्मक शब्द है। 'मनुष्य' शब्द से मनुष्य के किसी निश्चित कार्य का बोध नहीं होता। अतः हम यह नही कह सकते कि 'अच्छा मनुष्य' का निश्चित वर्णनात्मक अर्थ क्या है। इन सन्दर्भों में गीच की व्याख्या पूर्णतः अनुपयुक्त है। 'अच्छा चाकू' से हम जान लेते है कि कब चाकू अच्छा माना जायगा। किन्तु 'अच्छा मनुष्य', 'अच्छा कर्म' आदि से यह स्पष्ट नही होता कि मनुष्य या कर्म की किस वर्णनात्मक विशेषता के आधार पर इन्हें अच्छा कहा जा रहा है जब कि इनका प्रशंसात्मक अर्थ निश्चित है। हम कह सकते हैं कि कार्यात्मक एवं अकार्यात्मक दोनो प्रकार के शब्दो के विषय में 'अच्छा' वस्तु के कुछ गुणों का संकेत करता है जो प्रशंसनीय है। कार्यात्मक शब्द यह स्पष्ट कर देते हैं कि किन गुणों का निर्देश किया जा रहा है, किन्तु अकार्यात्मक शब्द नही करते।

फिलिपा फुट एवं जी. जे. वर्नाक

नैतिक भाषा का विवेचन

सर्व प्रथम हम फुट एवं वार्नाक के विचारों को संक्षेप में प्रस्तुत करेंगे। उसके पश्चात् नव्य प्रकृतिवाद एवं परामर्शवाद का तुलनात्मक विवेचन करेंगे। ***मॉरल्स बिलीफ्स*** फुट का सर्वाधिक चर्चित लेख है, और उन्हीं द्वारा सम्पादित पुस्तक ***थ्योरीज आफ एथिक्स*** में संकलित है। फुट के अनुसार सामान्यतः तथ्यात्मक कथनों एवं मूल्यात्मक निर्णयों में अन्तर माना जाता है। यह कहा जाता है कि तथ्यात्मक कथनों का सत्य या असत्य होना उन प्रमाणों पर निर्भर होता है

जिनका निर्धारण कथन के अर्थ से ही हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि दो व्यक्ति किसी तथ्यात्मक कथन की सत्यता के लिये भिन्न-भिन्न प्रमाण नही दे सकते। इसी प्रकार यदि किसी वर्णनात्मक कथन के लिये पर्याप्त प्रमाण दिया गया है तो अन्य व्यक्ति यह नही कह सकता कि वह इन्हें प्रमाण नही मानता। दूसरी तरफ मूल्यात्मक कथनों को किन्हीं प्राकृतिक गुणों से अनिवार्यतः सम्बन्धित नहीं माना जाता। कोई व्यक्ति किसी वस्तु को अ, ब, स गुणों के आधार पर अच्छा मानता है, परन्तु अन्य व्यक्ति इन गुणों के होने पर भी उसे अच्छी वस्तु नहीं मानते। इसी प्रकार एक व्यक्ति किसी वस्तु के अच्छा होने का एक प्रमाण दे सकता है और दूसरा व्यक्ति उस प्रमाण को अस्वीकार कर सकता है। फुट के अनुसार ये दोनों बातें नितान्त मिथ्या हैं।

श्री मती फुट का मत है कि हम किसी वस्तु को मनमाने ढंग से अच्छा या बुरा नहीं कह सकते। कारण यह है कि किसी वस्तु के अच्छा होने में एवं उसमें निहित कुछ विशेष गुणों में अनिवार्य सम्बन्ध होता है। फुट अच्छा के सम्बन्ध में परामर्शवाद की कुछ विशेषताओं को स्वीकार करती है। प्रथम 'अच्छा' का प्रयोग प्रशंसा से सम्बन्धित कुछ सामान्य नियमों के आधार पर किया जाता है, दूसरे कर्म करने या चयन के सम्बन्ध में ही इसका प्रयोग होता है। बाद में उसने इस दूसरी विशेषता का खण्डन किया है। पर सभी रचनाओं में वह मानती है कि अच्छा एवं गुणों में अनिवार्य सम्बन्ध है जिसमें कोई भी व्यक्ति मनमाने ढंग से परिवर्तन नही कर सकता।

उपरोक्त बिन्दू को स्पष्ट करने के लिए फुट ने 'गर्व' का उदाहरण दिया है। किसी वस्तु के विषय में गर्व का अनुभव कुछ शर्तों पर निर्भर है। एक शर्त यह है कि जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु पर गर्व करता है तो यह आवश्यक है कि यह वस्तु उसकी अपनी हो। दूसरी शर्त यह है कि यह वस्तु एक महान उपलब्धि हो जिसे उसने अपने प्रयास से प्राप्त किया हो। इन्हीं कारणों से कोई व्यक्ति आकाश पर गर्व नही कर सकता, न वह तीन बार मुट्ठी बन्द करने पर गर्व का अनुभव कर सकता है। आपत्ति की जाती है कि शुभ या अच्छा की तुलना

मनोभावों से नहीं हो सकती। अतः वह एक अन्य उदाहरण देती है– किसी वस्तु को खतरनाक मानना। क्या किसी भी वस्तु को खतरनाक कहा जा सकता है? या किसी वस्तु को किसी भी गुण के आधार पर खतरनाक कहा जा सकता है ? स्पष्ट है कि केवल उसी वस्तु को खतरनाक कहा जा सकता है जिससे किसी मनुष्य को शारीरिक या मानसिक हानि की आशंका हो।

फुट के अनुसार 'अच्छा' एवं 'खतरनाक' दोनो के अर्थों में पर्याप्त समानता है। 'अमुक वस्तु खतरनाक है' एवं 'अमुक वस्तु अच्छी है' दोनो कथनों को सत्य या असत्य कहा जा सकता है। दोनो के लिए तर्क या प्रमाण की मांग की जा सकती है। जिस प्रकार 'अच्छा' का कार्य प्रशंसा करना है वैसे ही 'खतरनाक' का कार्य चेतावनी देना है। 'खतरनाक' हमारा मार्गदर्शन भी करता है –खतरनाक वस्तु से दूर रहने की चेतावनी द्वारा। अतः तथ्यात्मक कथन भी आचरण को प्रभावित करते है। जिस प्रकार खतरनाक वस्तु का कुछ गुणों से अनिवार्य सम्बन्ध होता है वैसे ही 'शुभ' या 'अच्छा' का भी। न मनमाने ढंग से किसी वस्तु को खतरनाक कहा जा सकता है न किसी वस्तु को अच्छा।

श्रीमती फुट मानती हैं कि "अमुक कर्म अच्छा है" का अर्थ स्पष्ट एवं निश्चित नही है। अतः यह पूँछना आवश्यक है कि इससे वक्ता का क्या तात्पर्य है। हम अनेक कारणों से किसी कर्म को नैतिक दृष्टि से अच्छा कहते हैं। उदाहरण के लिए यदि कर्तव्य पालन के लिए कोई कर्म किया गया है तो अच्छा कर्म है। इसी प्रकार यदि कर्म किसी सद्गुण के अनुरुप है तो अच्छा है। अतः अच्छे कर्म एवं कर्तव्य एवं किसी न किसी सद्गुण में अनिवार्य सम्बन्ध है। हम किसी कर्म को यों ही शुभ या अच्छा नही कह सकते। कर्म तभी अच्छा कहा जाता है जब इसका व्यक्तियों के हित एवं अहित से सम्बन्ध होता है।[3]

प्रमाणों के विषय में परामर्शवादियों का मत है कि मूल्यात्मक निष्कर्ष के लिए कुछ व्यक्तिजिसे प्रमाण मानते हैं दूसरे व्यक्ति उसे प्रमाण के रुप में अस्वीकार कर सकते हैं। इनका विचार है कि तथ्य एवं मूल्य में बहुत बड़ा अन्तर है जिसके कारण किसी विशेष प्रमाण से विशेष निष्कर्ष का निगमन अनिवार्य नहीं है। यह संभव है कि दो व्यक्ति किसी कर्म के सभी परिणामों के

सम्बन्ध में सहमत हों पर इनमें एक इसे अच्छा माने और दूसरा नहीं। कारण यह है कि तथ्यात्मक परिणाम और उसका मूल्यांकन दो भिन्न भिन्न स्थितियाँ है। फुट इस निष्कर्ष को स्वीकार नहीं करती।

इसे स्पष्ट करने के लिए उसने 'आघात' का उदाहरण दिया है। 'अच्छा' के समान 'आघात' से भी हमारा मार्गदर्शन होता है। आघात वाली वस्तु से मनुष्य बचना चाहता है। अतः "अमुक वस्तु से आघात पहुँच सकता है" एक तथ्यात्मक कथन है जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि "हमें उस वस्तु से दूर रहना चाहिए"।

श्रीमती फुट का एक अन्य मत भी विचारणीय है। वह हेअर के इस विचार से सहमत नहीं है कि मूल्यात्मक निर्णय से एक विशेष आदेश अनुलग्न रहता है, और नैतिक निर्णय स्वीकार करने का अर्थ है उपयुक्त अवसर आने पर उस आदेश के अनुसार आचरण करना। फुट का कहना है कि नैतिक निर्णय को स्वीकार करने पर भी यह संभव है कि उस आदेश के अनुसार कर्म न किया जाय। वह कहती है:

"मै किसी दूसरे व्यक्ति में साहस होने की बात कह सकती हूँ, और इस साहस को वास्तविक अर्थ में सद्गुण भी मान सकती हूँ, जब कि मैं जानती हूँ कि मै पूर्णतःकायर हूँ तथा अपने आप को सुधारने के लिए कोई प्रयास भी नहीं करती।"[4]

श्री मती फुट ने इस प्रश्न पर भी विचार किया है हमें साहस, संयम, न्याय आदि सद्गुणों के अनुसार आचरण क्यों करना चाहिए। उसका उत्तर है कि सद्गुण अन्ततः स्वयं कर्ता के लिए हितकर होते हैं। इसीकारण सद्गुणों के अनुसार आचरण करना चाहिए। इस सन्दर्भ में एक प्रश्न उठता है क्या न्याय भी न्यायकर्ता के लिये लाभकारी होता है। वह मानती है कि न्याय के अनुसार आचरण करना कभी-कभी कष्टकर होता है। कारण यह है कि न्याय का संबंध व्यक्ति के अपने सुख से न होकर अन्य व्यक्तियों के हित या कल्याण से होता है। न्यायशील व्यक्ति को कभी-कभी अपने सुख का त्याग करना पड़ता है। पर इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि न्याय स्वयं न्यायशील व्याक्ति के लिए अन्ततः हानिकारक है। वह यह प्रश्न

उठाती है कि क्या अन्याई व्यक्ति अन्याय को न्याय की अपेक्षा अधिक हितकारी मान सकता है। फुट के अनुसार कोई भी व्यक्ति अन्यायपूर्ण कार्य करके सुखमय जीवन यापन नही कर सकता। कोई व्यक्ति कितना ही शक्तिशाली हो वह सदा अन्याय करके सुखी नही हो सकता।

इसके लिए उसने दो तर्क दिया है।

1.यदि कोई मनुष्य सफलता पूर्वक अन्याय पर चलना चाहता है तो उसे अन्य व्यक्तियों के साथ छल करना पड़ेगा और यह विश्वास दिलाना पड़ेगा कि वह न्यायशील व्यक्ति है। किन्तु न तो वह सदा धोखा दे सकता है न वह मानसिक शांति का अनुभव कर सकता है।

2.ऐसे व्यक्ति को सफलतापूर्वक आचरण करने के लिए अन्य व्यक्तियों को स्वतंत्र मनुष्य न मानकर उन्हें केवल अपने हित का साधन मानना पड़ेगा। किन्तु ऐसा करने पर उसका अन्य व्यक्तियों से मानवीय सम्बन्ध समाप्त हो जायगा। उस व्यक्ति के जीवन पर इसका भयानक दुष्प्रभाव अवश्य पड़ेगा। अतः यह नही कहा जा सकता है कि न्याय की अपेक्षा अन्याय किसी व्यक्ति के लिए अन्ततः हितकर सिद्ध होगा।[5] इन तर्कों के आधार पर फुट का मत है कि न्याय एवं अन्य सद्गुण मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनिवार्य है।

किन्तु अनेक दार्शनिकों का मत है कि न्याय केवल इस आधार पर किया जाता है कि वह न्याय है। इसमें व्यक्ति के हित या अहित पर ध्यान नही दिया जाता।

इस प्रश्न पर हम आगे विचार करेंगे।

श्रीमती फुट ने ***'गुडनेस ऐण्ड च्वाइस'***[6] लेख में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि किसी वस्तु को अच्छा कहने एवं उसका चयन करने में अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। किसी वस्तु का चयन करना या चयन की इच्छा रखना और उसे अच्छा कहने में अनिवार्य सम्बन्ध नही है। यह संभव है कि हम किसी वस्तु का चयन करें किन्तु वह अच्छी न हो। फुट का विचार है कि किसी वस्तु को अच्छी कहने की निश्चित कसौटियाँ है जिनमें हम इच्छानुसार परिवर्तन नही कर सकते। ये कसौटियाँ वस्तु के कार्य या उपयोग से पूर्व निर्धारित होती है। हेअर ने अपने लेख ***डिस्क्रिप्टीविज्म*** में इन व्याख्याओ का खण्डन किया है । हे अर भी मानता है

वस्तु को चुनना या चुनने की इच्छा करना ही वस्तु को अच्छा कहने का अनिवार्य या पर्याप्त कारण नही है। हेअर ने दो कथनों में भेद किया है: (1)"अमुक वस्तु अच्छी है" और (2) मै सोचता हूँ कि अमुक वस्तु अच्छी है"। हेअर के अनुसार केवल दूसरे कथन में वस्तु को अच्छा कहने और उसे चुनने में सम्बन्ध है, प्रथम प्रकार के कथन में नही। इसी प्रकार तथ्य एवं मूल्य के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए हेअर 'अनुभवात्मक असंभाव्यता' एवं 'तार्किक असंभाव्यता' में अन्तर करता है। तथ्यों में सहमति होने पर भी मूल्यों में असहमति अनुभवात्मक असंभाव्यता का प्रदर्शन करती है, किन्तु इसमे कोई तार्किक असंभाव्यता नही है। हेअर ने भी माना है कि किसी वस्तु को शुभ कहना इच्छाओं एवं आवश्यकताओं के सम्बन्ध में ही संभव होता है। सामान्यतः हम उन वस्तुओं को अच्छी कहते हैं जिनसे हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। किन्तु हेअर के अनुसार इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि शुभ तथा वस्तुओं के कुछ गुणों में अनिवार्य तार्किक सम्बन्ध है। अर्थ से सम्बन्धित तार्किक नियमों का उल्लंघन किए बिना हम किसी भी वस्तु को अच्छी कह सकते है। सामान्यतः विष बुरा है किन्तु औषधि के रुप में या आत्महत्या के उद्देश्य से उसे अच्छा कहा जायेगा। हेअर, गीच तथा फुट के इस विचार को स्वीकार करते हैं कि वस्तु को शुभ कहने के लिए कारण आवश्यक होते हैं, किन्तु वह मानता है कि इन कारणों एवं शुभ में अनिवार्य तार्किक सम्बन्ध नही है।[7]

फिलिपा फुट के समान जी.जे. वार्नाक ने अपनी पुस्तकों ***कन्टेम्पोररी मॉरल फिलासफी*** (1967) एवं ***द आब्जेक्ट आफ मॉरैलिटी*** (1971) में परामर्शवाद के विरूद्ध नव्य प्रकृतिवाद का समर्थन किया है। वार्नाक के अनुसार नैतिक भाषा का कोई एक अर्थ या उद्देश्य नही है। नैतिक भाषा भाषा के सामान्य प्रयोगों के समान बहुविध है। उसे एक ही प्रयोजन तक सीमित नही किया जा सकता। संवेगवाद एवं परामर्शवाद में यही त्रुटि है। वार्नाक का मत है कि नैतिक भाषा विभिन्न प्रसंगों में भिन्न भिन्न कार्य करती है। वस्तव में नैतिक भाषा का अर्थ कोई पृथक् भाषा नहीं है, केवल भाषा के नैतिक–सन्दर्भों में प्रयोग का ही विवेचन हो सकता है। वह कहता है:

"वास्तव में ऐसा कुछ भी नही है जो विशेषतः नैतिक भाषा से सम्बन्धित हो और जो उसे ही स्पष्ट करता हो।- - - - - इसमें सन्देह नही है कि नैतिक भाषा की अपनी शब्दावली होती है; कुछ शब्दो के अर्थ के कारण हमे यह ज्ञात होता है कि जिस भाषा में उनका प्रयोग किया गया है उसका सम्बन्ध नैतिकता की समस्याओं से है। परन्तु इसके साथ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जिस शब्दावली में नैतिक समस्याओं की विवेचना की जाती है वह वास्तव में केवल नैतिक समस्याओं से सम्बन्धित नही होती। 'शुभ', 'अशुभ','उचित', 'अनुचित', 'चाहिए', 'कर्तव्य', 'सद्‌गुण', और 'दायित्व'–में शब्द हमें अनिवार्यतः यह नही बताते कि नैतिक समस्याओं पर विचार किया जा रहा है, क्योंकि ऐसे सद्‌गुण भी हैं जो नैतिक सद्‌गुण नही 'हैं', ऐसे कर्तव्य भी है जो नैतिक कर्तव्य नही है और ऐसी शुभ वस्तुयें भी हैं जो नैतिक दृष्टि से शुभ नही है।- - - - - जिस प्रकार यह मान लेना स्पष्टतः मूर्खतापूर्ण है कि जो व्यक्ति नैतिक भाषा का प्रयोग करता है उसका सदा एक ही उद्देश्य होता है उसी प्रकार निश्चित ही हम यह भी नही मान सकते कि भाषा सम्बन्धी कोई एक ही कार्य है जिसे वह सदा सम्पन्न करता है।"[8]

स्पष्ट है कि वार्नाक के अनुसार नैतिक भाषा एक भिन्न प्रकार की भाषा नहीं है।

वार्नाक भी मानता है कि परामर्शवादियों के ये दोनो मत गलत हैं कि नैतिक कथन तथ्यात्मक कथनों से भिन्न होते हैं तथा नैतिक कथन आचरण को प्रभावित करते हैं जब कि वर्णनात्मक निर्णय ऐसा नही कर सकते। वार्नाक कहता है कि जब कोई व्यक्ति किसी तथ्यात्मक कथन का प्रयोग करता है तो उसका उद्देश्य सन्दर्भों के अनुसार वर्णन के अतिरिक्त सावधान करना, आश्चर्य मे डालना, चेतावनी देना, अनुमोदन प्राप्त करना, अथवा उन्हें मनाना भी हो सकता है। अर्थात् तथ्यात्मक कथन भी हमारे आचरण को प्रभावित करते हैं। यदि मै कहता हूँ कि अमुक वस्तु खतरनाक है तो मै तथ्यात्मक सूचना देता हूँ और साथ ही श्रोता को सावधान होने तथा उस वस्तु से दूर रहने के लिए प्रोत्साहित भी करता हूँ।[9] अतः नैतिक कथन तथ्यात्मक कथनों से भिन्न नही है।

वार्नाक यह भी कहता है कि कुछ ऐसे तथ्य भी होते हैं जिन्हें हम "नैतिक तथ्य" कह सकते हैं तथा इनसे सम्बन्धित ज्ञान को "नैतिक ज्ञान"। सामान्य व्यक्ति नैतिक निर्णय देता है तो वह इन कथनों को सत्य अथवा असत्य मानता है। व्याकरण की दृष्टि से भी नैतिक कथन तथ्यात्मक कथनों के समान होते हैं। तथ्यात्मक तथा नैतिक दोनों कथन हमारी पसन्द तथा रूचियों पर निर्भर न होकर उनसे स्वतंभ होते हैं। दोनो प्रकार के कथन वस्तुपरक एवं निर्वैयक्तिक होते है। इसी कारण नैतिक कथनों के सम्बन्ध में हमारी स्वतंत्रता उसी प्रकार सीमित है जैसे तथ्यात्मक कथनों के सन्दर्भ में। तथ्यों एवं परिस्थितियों की उपेक्षा करके मनमाने ढंग से नैतिक निर्णय देना संभव नही है। यदि कोई व्यक्ति निर्दयतापूर्वक किसी निर्दोष व्यक्ति को कष्ट देता है तो उसका कर्म अनिर्वायतः अनुचित है। इस कर्म को अनुचित न कहना वैसे ही असंगत है जैसे बर्फ को सफेद न कहना। वार्नाक स्वीकार करता है कि नैतिक गुण इस अर्थ में वस्तुनिष्ठ नहीं है कि मनुष्यों से स्वतंत्र होकर जगत् में उनका अस्तित्व है। यदि विवेकशील मनुष्य न होते तो नैतिकता भी न होती। किन्तु यह सत्य नहीं है कि नैतिक तथ्य व्यक्तिकी अपनी पसन्द या चुनाव पर निर्भर है। अपने निजी सुख के लिए झूंठ बोला, हत्या करना आदि नैतिक दृष्टि से अनुचित है। जहॉ तक किसी व्यक्ति का प्रश्न है वह उपरोक्त निर्णय के प्रति उदासीन हो सकता है अथवा उसे कर भी सकता है, फिर भी वस्तुनिष्ठ रूप से यह अनुचित है। नैतिकता का मनमाने ढंग से अर्थ नही किया जा सकता।[10]

किन्तु नैतिकता का अर्थ क्य है? ***कन्टेम्पोररी मॉरल फिलासफी*** में वार्नाक ने बताया है कि चार ऐसे तत्व हैं जिनमें एक या अधिक के आधार पर किसी नियम या निर्णय को नैतिक कहा जाता है।

(1)कुछ दार्शिनिकों का विचार है कि नैतिक निर्णय वह निर्णय है जिसके सम्बन्ध में वक्ता विशेष अनुमोदन के भाव का अनुभव करता है। यदि वह ऐसा कर्म करता है जिसे वह अनुचित समझता है तो ग्लानि या पश्चाताप का अनुभव करता है। यही भाव उसके निर्णय को नैतिक निर्णय बनाता है। यह भाव व्यक्ति का आन्तरिक भाव है। किन्तु यह संभव है कि कोई व्यक्ति

किसी कर्म के सम्बन्ध में इस प्रकार की भावना का अनुभव करे किन्तु वह कर्म अनुचित न हो। अतः भावना या सवेग किसी कर्म को उचित या अनुचित नही सिद्ध कर सकता।

(2)कुछ दार्शनिकों के अनुसार नैतिक नियम ऐसे नियम है जिन्हें मनुष्य अपने जीवन में अन्य नियमों की तुलना में अधिक महत्व देता है। आवश्यकता पड़ने पर वह अन्य नियमों का उल्लंघन करता है, किन्तु नैतिक नियमों का उल्लंघन नही किया जाता। केवल उसी स्थिति में किसी नैतिक नियम का उल्लंघन हो सकता है जब उसी समय इससे अधिक महत्वपूर्ण नैतिक नियम के पालन की आवश्यकता हो। किन्तु वार्नाक का विचार है कि नैतिक नियमों का निर्धारण उसके महत्व के आधार पर नही हो सकता। उसके अनुसार ऐसे व्यक्ति एवं समुदाय रहे हैं जिनके जावन में ऐसे नियमों का सर्वोच्च स्थान रहा है जन्हें नैतिक नियम नही माना जा सकता।[11]

(3)कुछ दार्शनिकों का मत है कि नैतिक निर्णय या नियम वे निर्णय या नियम है जिनका पालन करना सभी–जिसमें निर्णयकर्ता भी सम्मिलित है–के लिए अनिवार्य है। कोई नियम नैतिक नियम तभी हो सकता है जब उसका सावभौमीकरण संभव हो। कांट एवं हेअर का मत इसी प्रकार का है। किन्तु वार्नाक के अनुसार यह नैतिकता का निर्धारक तत्व नहीं है। यह संभव है कि कोई नियम सार्वभौमिक बनाया जा सके किन्तु वह नैतिक नियम न हो।

(4)कुछ दार्शनकों के अनुसार नैतिक निर्णय या नियम ऐसे निर्णय या नियम है जिनका प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मनुष्य की इच्छाओं, आवयकताओं एवं हितों से अनिवार्य सम्बन्ध होता है। ये दार्शनिक नैतिकता की परिभाषा उसकी विषय वस्तु के आधार पर करते हैं। ये विषय वस्तु मनुष्य की इच्छा, आवश्यकता एवं हित है। वार्नाक ने इसी मत का समर्थन किया है। उसके अनुसार नैतिकता का सम्बन्ध मनुष्य के सुख दुख, इच्छा, आवश्यकता तथा हित से है।[12] गीच एवं फुट ने भी इसी विचार को स्वीकार किया है।

स्पष्ट है कि वार्नाक एवं अन्य नव्य प्रकृतिवादी नैतिक दार्शनिक आवश्यतकता, इच्छा तथा हित को नैतिकता का अनिवार्य विषय मानते हैं। इनके अनुसार प्रथम तीन तत्वों का नैतिकता

से अनिवार्य सम्बन्ध नही है। हम किसी नियम के प्रति अनुमोदन अथवा अननुमोदन का भाव व्यक्त कर सकते है, उसे सर्वाधिक महत्वपूर्ण मान सकते है, एवं उसे सार्वभौमिक बनाने की इच्छा कर सकते हैं। वार्नाक के अनुसार इन तीनों में आंशिक सत्य अवश्य है, किन्तु इन्हें नैतिकता का पारिभाषिक लक्षण नही माना जा सकता। ये तीनों सिद्धान्त नैतिकता के विषय की उपेक्षा करते हैं, पर विषय के आधार पर ही नैतिकता का निर्धारण हो सकता है। वह कहता है :

''मेरा अपना विचार- - - - - यह है कि नैतिकता की कम से कम कोई विषय वस्तु अवश्य है जिसकी ओर हम संकेत कर सकते हैं।- - - - - यह कहना पर्याप्त सीमा तक उचित प्रतीत होता है कि जो व्यक्ति नैतिक निर्णय देता है उसे कम से कम यह अवश्य स्वीकार करना चाहिए कि इसमें जो मूल समस्या है वह मनुष्यों के लाभ अथवा उनकी हानि, उनके हित अथवा अहित से सम्वन्धित है और जिसे वह नैतिक दृष्टि से अनुचित मानता है वह किसी न किसी दृष्टि में हानिकारक तथा जिसे वह नैतिक दृष्टि से उचित मानता है वह किसी न किसी रूप में लाभदायक है।''[13]

वार्नाक ने अपने सिद्धान्त के विरोध में उठने वाली दो संभावित आपत्तियों का उत्तर दिया है। एक आपत्ति यह हो सकती है कि जिन्हें नव्य प्रकृतिवादी दार्शनिक तथ्य कहते हैं वे वास्तव में तथ्य न हो कर मूल्यात्मक है। लाभ,हानि, सुख, दुःख, हित, अहित आदि का कोई निश्चित तथ्यात्मक अर्थ नही है। ये अवधारणायें स्वयं मूल्यात्मक है। वार्नाक का कहना है कि हम निश्चित रुप से जानते हैं कि मनुष्यों के लिए क्या अच्छा है, क्या बुरा है, क्या लाभदायक है, या हानिकारक है। इन प्रश्नों का उत्तर किसी व्यक्ति पर निर्भर नहीं है। यह व्यक्तिगत विचार न होकर तथ्य है कि अत्याचार करना, भूखा, मारना, अपमानित करना अनुचित है। इसी प्रकार यह भी तथ्य है कि मनुष्यों से प्रेम करना,उनकी सेवा करना वस्तुनिष्ठ दृष्टि से उचित है।[14] दूसरी आपत्ति यह है कि इस सिद्धान्त में प्रकृतिवादी तर्क दोष निहित है। हित, इच्छा, आवश्यकता आदि के आधार पर नैतिक निष्कर्ष निकालने का अर्थ है तथ्यों से मूल्यात्मक

निष्कर्षों का निगमन। उदाहरण के लिए 'क से अमुक आवश्यकता की पूर्ति होती है, अतः क उचित है।' वार्नाक का उत्तर है कि तथ्यात्मक एवं नैतिक निर्णयों में अलंघ्य दूरी नही है। तथ्यों एवं मूल्यों में अनिवार्य सम्बन्ध होता है। यदि यह सत्य भी है कि किसी विशेष निकष को मानने के लिए हम बाध्य नहीं है तब भी यह सिद्ध नहीं होता कि हम मनमाने ढंग से कोई निकष मान सकते है। यदि कोई व्यक्ति किसी विशेष वस्तु को खाने के लिए वाध्य नहीं है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि हम कोई भी वस्तु खा सकते हैं।[15] हम केवल वही निकष मान सकते है जिनका हमारे हित, अहित से सम्बन्ध होता है। यदि मंगल ग्रह से कोई प्राणी आता है तो हम नही कह सकते कि उसके अनुसार क्या अच्छा है, क्या बुरा, क्योंकि हम उसकी आवश्यताओं को नही जानते।'[16]

किन्तु वार्नाक भी अन्य मूल्यात्मक निर्णयों के विषय में प्रकृतिवादी तर्क दोष को स्वीकार करता है। उसके अनुसार सामान्य मूल्यात्मक निर्णयों के लिए कोई व्यक्ति किसी निकष को तार्किक दृष्टि से स्वीकार कर सकता है। किन्तु नैतिक निर्णय अन्य मूल्यात्मक निर्णयों से भिन्न होते हैं। उनके निकष हित-अहित से अनिवार्यतः निर्धारित होते हैं जबकि अन्य मूल्यात्मक निर्णयों के लिए परामर्शवाद का मत सत्य है।[17] इस प्रकार वार्नाक कहता है कि नैतिकता के क्षेत्र में यदि प्रकृतिवाद होने का अर्थ है कुछ तथ्यों को नैतिक निर्णयों का निकष मानना तो प्रकृतिवादी सत्य है।[18]

नैतिक तर्कना

विवेचन एवं मूल्यांकन

फिलिपा फुट ने ***माइण्ड*** मे 1958 में प्रकाशित एवं जी.वैलेस एवं ए.डी.एम. वाकर सम्पादित ***द डेफीनीशन आफ मॉरैलिटी*** में संकलित ***मॉरल आर्ग्यूमेंट्स*** लेख में नैतिक तर्कना के स्वरूप का विवेचन किया है। इस लेख में उसने संवेगवादियों एवं परामर्शवादियों के सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उसका मत है कि नैतिक निर्णयों के पक्ष

एवं विपक्ष में जो तर्क दिए जाते हैं वे उसी प्रकार के होते है जिनका प्रयोग तथ्यात्मक निर्णयों के लिए किया जाता है। उसका कहना है कि संवेगवाद एवं परामर्शवाद के अनुसार दो व्यक्ति समान तथ्यात्मक आधार–वाक्यों को मानते हुए भी उनसे भिन्न-भिन्न निष्कर्ष निकाल सकते हैं। इनके अनुसार ऐसा इसलिए संभव होता है क्यों कि नैतिक निष्कर्षों का तथ्यों से अनिवार्य सम्बन्ध नहीं होता। किन्तु फुट का मत है कि समान तथ्यों से भिन्न-भिन्न निष्कर्ष नहीं निकल सकता। तथ्यात्मक निष्कर्षों में यह संभावना नहीं होती। उदाहरण के लिए यदि किसी व्यक्ति को पृथ्वी से सम्बन्धित सभी तथ्यों का ज्ञान हो जाय तो वह यह नही कह सकता कि पृथ्वी गोलाकार नहीं है। यही बात नैतिक निर्णयों के लिए भी सत्य है। नैतिक निर्णय के लिए दो आवश्यक शर्तें है। (1) जहाँ प्रमाण की आवश्यकता है वहां उपयुक्त प्रमाण अनिवार्य है और (2)विरोधी प्रमाणों का तर्क–संगत खण्डन आवश्यक है।[19]

फुट के अनुसार नैतिक तर्कना में तथ्यात्मक आधार वाक्यों से मूल्यात्मक निष्कर्ष निकलता है। किन तथ्यात्मक कथनों से क्या निष्कर्ष निकलता है इस सम्बन्ध में हम स्वतंत्र नहीं है। उचित एवं पर्याप्त कारणों के अभाव में हम तथ्यों से मनमाने निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। किसी व्यक्ति या कर्म से सम्बद्ध सभीतथ्यों से अवगत होने के पश्चात् दो व्यक्ति भिन्न-भिन्न या परस्पर विरोधी निष्कर्ष नही निकाल सकते। यदिऐसा किया जाता है तो दोनो में एक का निष्कर्ष अवश्य असत्य होगा। यह मत भी गलत है कि किसी निष्कर्ष के लिए कोई भी तथ्य आधार वाक्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। अतः दो बाते स्पष्ट है : (1)तथ्यात्मक आधार वाक्यों से नैतिक निष्कर्ष निगमित होते है; (2)तथ्यात्मक युक्तियों एवं नैतिक युक्तियों में तार्किक रुप से कोई अन्तर नहीं है। दोनो युक्तियों को समान मानते हुए फुट ने लिखा है :

''यह निश्चित है कि नैतिक निष्कर्ष के समर्थन में कुछ वातों का महत्व है,कुछ का नही, जिस प्रकार कोई व्यक्ति आर्थिक मुद्रा-स्फीति अथवा मस्तिष्क में फोड़े के विषय में प्रमाण का स्वयं निर्णय नहीं कर सकता उसी प्रकार वह उचित तथा अनुचित के लिए प्रमाण के सम्बन्ध में भी स्वयं इच्छानुसार निर्णय नही कर सकता।- - - - - प्रायः यह कहा जाता है कि

वर्णनात्मक आधार वाक्यों से मूल्यात्मक निष्कर्ष नही प्राप्त हो सकता; परन्तु इसे प्रमाणित कैसे किया जा सकता?" [20] फुट ने इस मत के समर्थन में एक उदाहरण दिया है। यह कथन लीजिए: "अ ने अशिष्ट व्यवहार किया है।" "अशिष्ट" शब्द मूल्यात्मक है जिसका प्रयोग सभी प्रकार के व्यवहार के लिए नही हो सकता। इसका प्रयोग आपत्तिपूर्ण तथा असम्मान पूर्ण व्यवहार के लिए ही हो सकता है। यह शब्द वक्ता का अननुमोदन व्यक्त करता है तथा उस आचरण की निन्दा करता है तथा भविष्य में इसकी पुनरावृत्ति को निरुत्साहित करता है। स्पष्ट है कि "अशिष्ट" का प्रयोग केवल ऐसे व्यवहार के ले किया जा सकता है। जिसके कारण किसी का अपमान होता है या उसकी भावनाओं को आघात पहुँचता है। ये तत्व 'अशिष्ट' के अर्थ में ही निहित है। इनके अभाव में 'अशिष्ट' का प्रयोग नहीं हो सकता कोई व्यक्ति अपनी इच्छानुसार, मनमाने ढंग से, इसका सही प्रयोग नहीं कर सकता। इसी प्रकार यदि किसी व्यक्ति का व्यवहार अपमानपूर्ण है तो हम यह भी नही कह सकते कि उसका व्यवहार अशिष्ट नहीं है। अतः यदि कोई व्यक्ति इस तत्व को स्वीकार करता है कि "अ ने व का अपमान किया एवं उसकी भावनाओं को आघात पहुँचाया" तो वह तार्किक रूप से इस निष्कर्ष को अस्वीकार नहीं कर सकता कि "अ ने ब के साथ अशिष्ट व्यवहार किया"। वह यह नहीं कह सकता कि "अ' ने ब के साथ शिष्ट व्यवहार किया। अतः हम कह सकते हैं कि 'अशिष्ट व्यवहार' की कुछ निश्चित कसौटियॉं हैं जिनको स्वीकार करना उन सभी व्यक्तियों के लिए अनिवार्य है जो इसका प्रयोग करते हैं।"[21]

फिलिया फुट का मत है कि जो बात "अशिष्ट" शब्द के लिए सत्य है वही "शुभ' या "अच्छा", "उचित", "अनुचित" आदि नैतिक शब्दों के लिए भी। प्रत्येक नैतिक शब्द के प्रयोग की कुछ निश्चित कसौटियॉं है जिनका पालन अनिवार्य है। कोई व्यक्ति स्वच्छन्दता पूर्वक इनका उल्लंघन नहीं कर सकता। उसका कहना है :

"जो व्यक्ति नैतिक शब्दों का प्रयोग करता है चाहे वह इनका प्रयोग किसी नैतिक कथन का समर्थन करने के लिए करे या विरोध करने के लिए उसे इन शब्दों के प्रयोग से सम्बन्धित

नियमों का पालन अवश्य करना पड़ेगा जिनमे वे नियम भी हैं जो बताते हैं कि सम्बन्धित नैतिक निर्णय के पक्ष या विपक्ष में किसे प्रमाण माना जाएगा।''[22]

श्रीमती फुट का अन्त में यही मत है कि मनुष्यों की इच्छा, आवश्यकता, हित, अहित से सम्बन्धित तथ्य ही नैतिक निर्णयों के लिए प्रमाण हो सकते हैं। फुट के समान ही वार्नाक का भी मत है। उसका भी विचार है कि नैतिक निष्कर्षों के पक्ष या विपक्ष में तर्क देना सम्भव है। नैतिक निर्णय कुछ तथ्यात्मक निदर्शनात्मक कथनों पर निर्भर होते हैं। उदाहरण के लिए यदि हम जानते हैं कि किसी कर्म से निर्दोष व्यक्ति या समुदाय को हानि होती है तथा उस कर्म से किसी व्यक्ति का हित नहीं होता, तो यह कर्म निश्चित रूप से अनुचित है। वार्नाक ने इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण दिया है। यदि कोई व्यक्ति अपने बच्चों को अफीम खिलाकर उनमें नशे की आदत उत्पन्न करता है तो उसका कर्म निश्चित रूप से अनुचित है। यदि कोई अन्य व्यक्ति इसे अनुचित नहीं मानता तो या तो वह इस युक्ति को समझता नहीं अथवा वह ''अनुचित'' का अर्थ ही नही जानता।[23]

किन्तु वार्नाक ने स्वीकार किया है कि नैतिक निर्णयों के लिए निदर्शनात्मक तर्क संभव होते हुए भी कठिन अवश्य हैं सिद्धान्त रूप में कोई कठिनाई नहीं है, किन्तु अनेक कारणों से ऐसे तर्क वास्तविकता में संभव नहीं होते। वार्नाक ने इसके लिए अधोलिखित पांच कारणों का विवेचन किया है[24] :

1. 'मनुष्य के हित' का संप्रत्यय पूर्णतः अनिश्चित न होते हुए भी बहुत स्पष्ट नहीं है। नैतिक तर्कना का सम्बन्ध मनुष्यों के हितों से है। किन्तु निश्चित रूप से यह बताना कठिन है कि मनुष्य का हित क्या है या किसमें निहित है।

2. उचित या अनुचित का वस्तुपरक दृष्टि से निश्चय करने के लिए अल्पकालीन हित, अहित का दीर्घकालीन हित अहित से तुलना आवश्यक है। किन्तु इस प्रकार की तुलना असंभव न होते हुए भी कठिन हैं।

3. कुछ व्यक्तियों के हित अहित की तुलना अन्य व्यक्तियों के हित-अहित से करना वांछनीय होते हुए भी कठिन है।

4. किसी एक व्यक्ति के भी भविष्य से सम्बन्धित हित-अहित का आकलन कठिन है।

5. उपयुक्त नैतिक निर्णय देने के लिए किसी कर्म के सुदूर भावी परिणामों का विचार आवश्यक हैं। किन्तु भावी परिणामों का आकलन अत्यन्त कठिन है।

अतः वार्नाक मानता है कि संभव होते हुए भी नैतिकता के क्षेत्र में पूर्णतः वस्तुनिष्ठ एवं विश्वसनीय निदर्शनात्मक तर्क देना कठिन होता है। हम पहले देख चुके है कि लगभग इन्हीं कारणों से मूर ने कर्तव्य अथवा उचित, अनुचित के निर्धारण के लिए तर्कों का त्याग करके समाज में स्वीकृत एवं प्रचलित नियमों के अनुसार आचरणों को उचित माना था। नव्य प्रकृतिवाद के अनुसार नैतिक तर्कना के मूल्यांकन के लिए कुछ अवधारणाओं का विश्लेषण आवश्यक है।

वर्णनात्मकवाद एवं परामर्शवाद

दोनों प्रकार के सिद्धान्त नैतिक युक्तियों को निगमनात्मक स्वरूप में स्वीकार करते हैं। इस अर्थ में इसका मत प्रज्ञावाद, संवेगवाद एवं अच्छे तर्कों के सिद्धान्त से भिन्न है। फिर दोनों में अन्तर क्या हैं? नव्य प्रकृतिवाद के अनुसार केवल तथ्यात्मक आधार वाक्यों से नैतिक निष्कर्ष प्राप्त किया जा सकता है जबकि परामर्शवाद के अनुसार आधार वाक्यों में एक आधार वाक्य निश्चित रूप से स्पष्ट मूल्यात्मक निर्णय होता है। अर्थात् केवल 'हैं' से "होना चाहिए" का निगमन नहीं हो सकता। नव्य प्रकृतिवादी भी मानते है कि नैतिक कथनों में तथ्यात्मक एवं मूल्यात्मक अंश अवियोज्य रूप से निहित रहते हैं। अतः इन दोनों मतों के लिए मुख्य प्रश्न है : क्या किसी नैतिक संप्रत्यय में तथ्यात्मक एवं मूल्यात्मक अंशों को तार्किक रूप से पृथक किया जा सकता है? उदाहरण के लिए परामर्शवाद के अनुसार "वादा करने' में तथ्यात्मक एवं मूल्यात्मक अंशों को एक दूसरे से पृथक किया जा सकता है। वादा करने में एक विशेष नैतिक नियम निहित रहता है जो यह बताता है कि हमें वादा निभाना चाहिए। किन्तु वर्णनात्मकवाद इसका खण्डन करता है। इसके अनुसार यह पूँछा जा सकता है कि इस नियम का निर्णय हमने

कब लिया था? वर्णनात्मकवाद के अनुसार केवल संस्थागत तथ्य पर्याप्त है। पर हेअर का मत है कि किसी भी तथ्य के अतिरिक्त एक मूल्यात्मक निर्णय को मानना आवश्यक है तभी तथ्यों से नैतिक निष्कर्ष निकल सकता है। वास्तव में अब भी इस विवाद का निश्चित समाधान संभव नही हुआ है।

तथ्य यह है कि कोई निर्णय कब नैतिक निर्णय होता है या नैतिक निर्णय के निर्धारक तत्त्व क्या हैं, इसका अभी भी निश्चित उत्तर नहीं मिला है। इसका निश्चय करने के लिए कि वर्णनात्मक से मूल्यात्मक अवयवों को पृथक् किया जा सकता है या नहीं इस कथन पर विचार कीजिए : "श्याम साहसी है"। हेअर ने अपने लेख *डिस्क्रिप्टीविज्म*[25] में लिखा है कि व्यवहार के तटस्थ शब्दों में वर्णित कुछ कार्य है जिनकी प्रशंसा के लिए साहसी" शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसमें दो वातों में स्पष्ट अन्तर है : "श्याम साहसी है।" द्वारा वर्णित तथ्य एवं इन तथ्यों के आधार पर श्याम की प्रशंसा। वर्णनात्मकवाद का उत्तर है कि इन उदाहरणों में तथ्य एवं प्रशंसा के अंश या तो आश्रितता या तार्किक सम्बन्ध के द्वारा परस्पर सम्बन्धित हैं। दोनों को पृथक नहीं किया जा सकता। हेअर का उत्तर है कि शब्दों के विषय में जो कहा जाता है वह वस्तुओं के लिए भी सत्य हो यह आवश्यक नहीं है। इस तथ्य से कि यदि किसी वस्तु को आवश्यकता कहा जाता है यह सिद्ध होता है कि यह वस्तु अच्छी है, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि हम किसी विशेष वस्तु को आवश्यकता कह सकते हैं। हेअर के अनुसार अनस्तित्व, अवृद्धि, अनुत्पत्ति आदि को भी मूल मानवीय आवश्यकता माना जा सकता है। यदि किसी वस्तु को आवश्यकता कहा जा सकता है तो यह भी स्पष्ट है कि किसी भी वस्तु को आवश्यकता नहीं भी माना जा सकता है। हेअर मानता है कि मनुष्य किसी वस्तु को मुख्य आवश्यकता मान सकता है।

इसी प्रकार डी. जेड. फिलिप्स एवं एच. ओ. माउन्स[26] ने नव्य प्रकृतिवादियों के विरोध में यह तर्क प्रस्तुत किया है कि ऐसी कोई आवश्यकता नहीं है जिसे अनुभवात्मक रूप से सभी

व्यक्ति चाहते हों। उनका दूसरा तर्क यह है कि नव्य प्रकृतिवादी की अवधारणा कि इच्छा एवं अवधारणा की खोजकर सभी नैतिक निर्णयों को उन पर आश्रित माना जा सकता है गलत है। फिलिप्स एवं माउन्स के अनुसार स्थिति विपरीत है। मनुष्य की कुछ आवश्यकताएं उनके नैतिक विश्वासों द्वारा निर्धारित होती हैं। इसके लिए उन्होंने एक उदाहरण दिया है। एक धर्म निरपेक्ष बुद्धिवादी व्यक्ति एक रोमन कैथलिक स्त्री से "निरोध" के पक्ष में तर्क करता है। उसका कहना है कि अधिक बच्चों से मां का स्वास्थ्य बिगड़ता है, परिवार में निर्धनता आती है, बच्चों का पालन ठीक से नहीं हो पाता, परिवार के सदस्य अपनी आवश्यकताएं पूरी नहीं कर पाते, आदि। उस स्त्री का उत्तर है कि मां होना गौरव की बात है। फिलिप्स एवं माउन्स के अनुसार उस स्त्री की आवश्यकता उसके विश्वास पर निर्भर है। धर्म निरपेक्ष बुद्धिवादी यह नही समझ सकता कि मातृत्व के गौरव का क्या अर्थ है।

क्या नैतिकता तार्किक रुप से मानवीय आवश्यकताओं में निहित है? वार्नाक का उत्तर हाँ में है। वह कहता है कि नियमों की सार्वभौमिकता, उनका महत्व आदि का सम्बन्ध निर्नैतिक विषयों से भी हो सकता है। किन्तु इसी तर्क के आधार पर कहा जा सकता है कि मानवीय आवश्यकतायें नीतिशास्त्र के अतिरिक्त अन्य विषयों जैसे मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि विषयों के क्षेत्र से सम्बन्धित हैं। वास्तव में आवश्यकता नहीं बल्कि एक विशेष प्रकार से आवश्यकता की बात करना नैतिकता से सम्बन्धित है। नीतिशास्त्र की विषय-वस्तु महत्वपूर्ण है, पर इससे भी अधिक महत्व नैतिक भाषा के विशेष तार्किक स्वरुप का है।

वार्नाक कहता है कि यह कहना कठिन है कि कोई ऐसी आवश्यकता है जिसे सभी चाहते हैं। यदि ऐसा है तो इसका भी खण्डन हो सकता है कि जो आवश्यक है वह शुभ है। किन्तु उसके अनुसार इस तरह का कथन बुद्धि गम्य नही है। यह तथ्य है कि हमारी कुछ आवश्यकतायें हैं, अतः यह भी सत्य है कि शुभ का निर्धारण इन्हीं आवश्यकताओं के सन्दर्भ में हो सकता है। किन्तु वार्नाक के ये तर्क निश्चायक नहीं हैं। यदि 'शुभ' एवं 'उचित' का प्रयोग कुछ इच्छाओं तक सीमित है तो जिसे हेअर हठी नैतिकता कहता है असंभव है? किन्तु क्या वास्तव

में ऐसा है? क्या यह कथन केवल तार्किक आधार पर निरर्थक है कि यहूदियों की हत्या करते समय नाजी सैनिक अपने कर्तव्य का पालन कर रहे थे? हम इससे सहमत नहीं है, किन्तु इस असहमति का आधार केवल "कर्तव्य" का तार्किक विवेचन नहीं है। वार्नाक का यह भी मत है कि यदि मंगल वासी पृथ्वी पर आते आते हैं तो हम यह नही कह सकते कि उनके अनुसार शुभ या उचित क्या है क्योंकि हम उनकी इच्छाओं को नहीं समझते। किन्तु क्या यह सत्य नहीं है कि उनकी गंभीरता, सार्वभौमिकता आदि के आधार पर हम समझ सकते है कि उनके लिए नैतिकता क्या है। किसी की भाषा को समझने का अर्थ है यह समझना कि वह किस प्रकार के वाक्कार्य कर रहा है। उससे सहमत होने का आधार भिन्न हो सकता है।

वास्तव में हेअर एवं वार्नाक दोनो मानवीय इच्छाओं एवं आवश्यकताओं को महत्व देते हैं, अन्तर केवल इस वात में है कि वे किस प्रकार इन्हें नैतिकता से सम्बद्ध करते हैं। *फ्रीडम ऐण्ड रीज़न* में हेअर इच्छाओं एवं सार्वभौमिकता के आधार पर सभी मनुष्यों की सभी इच्छाओं पर विचार करना नैतिक नियमों एव नैतिक कर्मों के औचित्य के लिए आवश्यक मानता है। अर्थात् हेअर के अनुसार कोई निर्णय नैतिक है यदि इसमें सभी व्यक्तियों की प्रासंगिक इच्छाओं पर विचार किया गया है। किन्तु फुट एवं वार्नाक के अनुसार कोई निर्णय नैतिक है यदि इसका विषय कुछ आवश्यकताओं की संतुष्टि है जिनका सम्बन्ध सभी मनुष्यों से है।

अब हम नव्य प्रकृतिवाद की कुछ मूल समस्याओं का विवेचन करेंगे। इस सिद्धान्त के अनुसार नैतिक तर्कना तथ्यात्मक तर्कना के समान निगमनात्मक है, एवं इसमें आधार वाक्यों एवं निष्कर्ष मे वाक्यों के अर्थ के द्वारा ही निगमन की क्रिया सम्पादित होती है। किन्तु क्या यह दावा सत्य माना जा सकता है? एक निगमनात्मक तर्क का उदाहरण लीजिए:

सभी मनुष्य मरणशील हैं

सुकरात मनुष्य है

इसलिए सुकरात मरणशील है

यहाँ आधार वाक्यों में निष्कर्ष निहित है तथा 'सभी' आदि के अर्थ से ही निगमन संभव हो जाता है। ये निष्कर्ष हमारे अनुभव पर निर्भर न हो कर अर्थ एवं परिभाषा पर ही निर्भर होते हैं। इन तर्कों का अपवाद संभव नही है। नैतिक तर्कना में वाक्य जिनका प्रयोग आधार वाक्य एवं निष्कर्ष के रूप में किया जाता है विश्लेषणात्मक कथन नही है। वार्नाक स्वयं मानता है कि ये निर्णय हमारे अनुभव पर निर्भर है। केवल अर्थ के आधार पर नैतिक निर्णयों का निगमन नहीं हो सकता। इस उदाहरण पर विचार कीजिएः

क ने ख की भावनाओं पर आघात किया

इसलिए क ने ख के साथ अशिष्ट व्यवहार किया

यहाँ मैने जान वूझकर 'अनुचित' का प्रयोग नहीं किया है। पर क्या यहाँ भी निष्कर्ष केवल अर्थ के आधार पर निकल सकता है? यह तभी सभव है जव 'भावनाओं पर आघात' एवं 'अशिष्ट' समानार्थक शब्द हों। किन्तु ऐसा नही है। यदि दोनो को समानार्थक माना जाय तो हम किसी स्थिति में यह नही कह सकते कि क ने ख की भावनाओं पर आधात कर के अशिष्ट व्यवहार नहीं किया। मान लीजिए ख ने क को गाली दिया जिसके लिए कोई उपयुक्त कारण नहीं था और क ने बदले में ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जिससे ख की भावनाओं पर आघात पहुँचा। इस स्थिति में हम कहेंगे कि क ने ख के साथ अशिष्ट व्यवहार नही किया। पर यदि 'भावनाओं पर आघात' पहुँचाना एवं 'अशिष्ट' शब्द समानार्थक है तो यह कथन व्याघाती हो जायगा। इसी प्रकार ऐसा कोई आचरण नहीं है जो किसी न किसी परिस्थिति में उपयुक्त न माना जाय। दर्द, भूखा रहना आदि भी कुछ स्थितियों में नैतिक माने जा सकते हैं।

हम अगले अध्याय में देखेंगे कि इच्छा, आवश्यकता, हित आदि में बहुत अन्तर है। इन्हें एक साथ नही रखा जा सकता। इसी प्रकार न तो 'इच्छा' एव 'चाहिए' का अर्थ एक हो सकता है न इच्छा चाहिए का निर्धारक तत्व है। जहाँ तक हित का प्रश्न है वार्नाक स्वयं मानता है कि हित का संप्रत्यय बहुत स्पष्ट नहीं है। फिर भी वार्नाक एवं फुट हित के आधार

पर नैतिकता का निश्चय करना चाहते हैं। 'हित' केवल तटस्थ तथ्यात्मक शब्द नही है। हित के निर्धारण में विभिन्न आदर्शों एवं मूल्यों का तत्व अनिवार्यतः निहित रहता है। विभिन्न संस्कृतियों में तथा एक ही संस्कृति में विभिन्न कालो में हित की अवधारणायें भिन्न-भिन्न होती हैं। यही नही जीवन की सार्थकता के सम्बन्ध में आदर्शवादी के हित की अवधारणा सामान्य व्यक्तियों से भिन्न हो सकती है। कोई भी नैतिक सिद्धान्त हेअर के आदर्शवादी व्यक्ति की अवहेलना नही कर सकता। अन्त में जैसा विट्गेंस्टाइन मानता है हमारे जीवन-रुप से भिन्न जीवन रुपों में हित की ऐसी अवधारणायें संभव है जो हमारी जीवन पद्धति से पूर्णतः भिन्न हैं।

यह सत्य है कि नैतिक निर्णय ऐच्छिक क्रियाओं पर दिये जाते हैं। ये क्रियायें निरूद्देश्य नही होती। कर्म किए ही इसलिए जाते है कि मानव अपनी इच्छाओं की संतुष्टि चाहता है। अतः मानव कर्म एवं आचरण का इच्छा, आवश्यकता एवं हित से अनिवार्य सम्बन्ध होता है। किन्तु प्रश्न है कि नैतिकता का इन सबसे किस प्रकार का सम्बन्ध होता है। नव्य प्रकृतिवाद इसका उपयुक्त उत्तर नही दे पाता। इसीलिए उसकी तर्कना की अवधारणा भी संतोषजनक नही है। परन्तु यह भी सत्य है कि अभी भी नव्य प्रकृतिवाद एवं परामर्शवाद का विवाद एक जीवित विवाद है।

सन्दर्भ

1. फिलिपा फुट, सं. 'थ्योरीज आफ एथिक्स' पृ०67-68

2 हेअर आर. एम., 'गीच : गुड ऐण्ड इविल'' फिलिपा फुट, स. 'थ्योरीज आफ एथिक्स' पृ. 79

3. फुट, फिलिपा, वही, पृ० 92

4. वही, पृ० 96

5 वही, पृ० 100

6 हडसन, डब्लू. डी., सं. ''द इज आट क्वेश्चन' में संकलित

7. हेअर आर. एम. 'डिस्क्रिप्टीविज्म', हडसन स. 'द इज्ट-ऑट क्वेश्चन' में संकलित, पृ. 256-58

8. वार्नाक, जी. जे. ''द आब्जेक्ट आफ मौरैलिटी'', पृ० 25

9. वही, पृ० 136

10. वही, पृ० 124-125

11. वार्नाक, जी. जे., 'कन्टेम्पोररी मॉरल फिलासफी पृ. 54

12. वही, पृ. 61

13. वही, पृ० 57

14. वही, पृ० 60

15. वही, पृ० 66

16. वही, पृ० 66-67

17. वही, पृ० 68

18 वही, पृ० 68

19. वैलेस, जी. एवं वाकर ए.डी.एम. सं. "द डेफीनीशन आफ मोरैलिटी" पृ० 175

20. वही, पृ० 177,179

21. वही, पृ० 180-2

22. वही, पृ० 183

23. वार्नाक जी. जे. 'कन्टेम्पोररी मॉरल फिलासफी', पृ० 70

24. वही, पृ० 69-70

25. हेअर आर. एम. "डिस्क्रीप्टीविज्म" प्रोसीडिंग्स आफ द ब्रिटिश अकादमी" 1963

26. 'आन मोरैलिटीज हैविंग ए प्वाइंट' फिलासफी, 1965

अध्याय–7

उपसंहार

नैतिकता के क्षेत्र में नैतिक तर्कना का स्वरूप सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समस्या है। इस समस्या पर नियामक नीतिशास्त्र में भी विचार किया गया है, किन्तु अधिनीतिशास्त्र में इस समस्या का और अधिक महत्व है। मूर एवं रॉस ने मूलतः नियामक नीतिशास्त्र के प्रश्नों पर ही विचार किया है, जबकि संवेगवाद, परामर्शवाद, अच्छे तर्क के सिद्धान्त एवं नव्य प्रकृतिवाद, अधिनीतिशास्त्रीय सिद्धान्त हैं। पिछले दो दशकों में पुनः नियामक नैतिक विवेचन का महत्व बढ़ा है, किन्तु हमने वर्तमान शोध प्रबन्ध में नैतिक तर्कना पर मुख्य रूप से अधिनीतिशास्त्र की दृष्टि से ही विचार किया है। टूलमिन का मत है कि नैतिक शब्दों, नैतिक निर्णयों की अपेक्षा नैतिक तर्कों को प्राथमिकता देनी चाहिए। नैतिक तर्कों का स्वरूप समझ लेने के पश्चात् ही नैतिक भाषा के अन्य पक्षों का विवेचन किया जा सकता है। किन्तु अन्य समकालीन दार्शनिकों के अनुसार नैतिक शब्दों के अर्थ एंव कार्य समझने के पश्चात् ही नैतिक युक्तियों का विवेचन हो सकता है। इसकाकारण यह है कि भाषा के अर्थ सिद्धान्त, नैतिक शब्दों के अर्थ एवं नैतिक निर्णयों के कार्य के आधार पर ही नैतिक युक्तियों की विशेषतायें एवं प्रकारनिर्भर है। टूलमिन के सिद्धान्त में भी परोक्ष रूप से इसकी स्वीकृति है क्योंकि उसने विट्गेंस्टाइन के मत "प्रयोग अर्थ है" के आधार पर ही अपना विश्लेषण प्रस्तुत किया है। स्पष्ट है कि नैतिक तर्कना के विवेचन के पूर्व नैतिक भाषा का कार्य, नैतिक शब्दों एवं निर्णयों के अर्थ एवं कार्य का स्पष्टीकरण आवश्यक है।

इस सन्दर्भ में हमने अर्थ के निर्देशन सिद्धान्त, सत्यापन सिद्धान्त, मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त एवं प्रयोग सिद्धान्त की समीक्षा किया है क्योंकि समीक्ष्य दार्शनिकों ने अपने सिद्धान्तों में इन्हीं का उपयोग किया है। मूर एवं रॉस ने प्रत्यक्ष रूप से नैतिक भाषा अथवा अर्थ का प्रश्न नहीं उठाया है, किन्तु निर्देशन सिद्धान्त उनकी मान्यताओं में निहित है। मूर के अनुसार "शुभ" एवं रॉस के अनुसार "शुभ" एवं "उचित' का अर्थ सरल, अविश्लेष्य, अपरिभाष्य निर्प्राकृतिक गुण है। इन शब्दों की वास्तविक परिभाषायें असंभव हैं क्योंकि वास्तविक परिभाषायें केवल उन्हीं शब्दों की हो सकती हैं जिनका अर्थ कोई साश्लिष्ट वस्तु है। निर्प्राकृतिक गुण होने के कारण

इनका ज्ञान इन्द्रिय अनुभव से नही हो सकता, तथा अपरिभाषेय होने के कारण इन्हें प्राकृतिक तथ्यों से तर्कतः सम्बद्ध नहीं किया जा सकता। और प्राकृतिक तथ्यों से तार्किक सम्बन्धों के अभाव में इनका समर्थन या खण्डन तर्कों द्वारा नही हो सकता। प्रज्ञावाद के अनुसार शुभ एवं उचित का ज्ञान (मूर के अनुसार केवल शुभ का) केवल प्रज्ञा के द्वारा संभव है। भाषा की दृष्टि से यह सिद्धान्त अर्थ के निर्देशन सिद्धान्त पर आश्रित है। इसके अनुसार शब्दों का अर्थ वस्तु, गुण आदि हैं जिसका निर्देश शब्द द्वारा किया जाता है।

निर्देश सिद्धान्त के एक अन्य प्रकार के अनुसार शब्द का अर्थ वस्तु नही है, अपितु शब्द एवं वस्तु के संबंध से निर्धारित होता है। विट्गेंस्टाइन ने *ट्रैक्टेट्स* में निर्देश सिद्धान्त का ही समर्थन किया था, किन्तु *फिलासफिकल इन्वेस्टीगेशंस* एवं अन्य पुस्तकों में उसने निर्देशन सिद्धान्त का प्रबल रूप से खण्डन किया है। प्रथम, सभी शब्दों द्वारा वस्तु या गुण या क्रिया का निर्देश नहीं होता। द्वितीय, जिन शब्दों का प्रयोग किसी वस्तु के लिए किया जाता है उनका भी अर्थ निर्दिष्ट वस्तु नहीं है। यदि ऐसा होता तो जो बात वस्तु के लिए कही जाती है वही अर्थ के लिए भी उपयुक्त होती। किन्तु ऐसा नहीं होता। उदाहरण के लिए हम कहतेहैं "पेड़ टूट गया" किन्तु हम यह नहीं कह सकते "पेड़" का अर्थ टूट गया"।

निश्चित है कि अर्थ का निर्देशन सिद्धान्त गलत है। इसे स्वीकार करने के कारण मूर ने शुभ को सरल निर्प्राकृतिक गुण माना था तथा बाद में उसे स्वयं ही इस सिद्धान्त पर संशय हो गया था।

श्लिक, कार्नप एवं एअर ने सत्यापन सिद्धान्त के द्वारा सार्थकता का निर्णय किया था। इनके अनुसार केवल वही कथन सार्थक हैं जो या तो विश्लेषणात्मक हैं या इन्द्रिय अनुभव द्वारा सत्यापनीय हैं। नैतिक वाक्य न विश्लेषणात्मक है न सत्यापनीय हैं। अतः नैतिक निर्णय शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से निरर्थक हैं। फिर भी ये निर्णय तत्व मीमांसकीय कथनों से भिन्न हैं एवं उनमें संवेगात्मक अर्थ होता है। एअर असंज्ञानवाद एवं अवर्णनवाद का समर्थक है। नैतिक

निर्णय वर्णानत्मक कथन नही है। इनके सत्य या असत्य होने का प्रश्न ही नहीं है। ये केवल संवेगों की अभिव्यक्तियॉ है, संवेगों के वर्णन नही। किन्तु सत्यापन सिद्धान्त का निश्चित, विवाद रहित स्वरूप नही बन पाया। इसके साथ ही यह सिद्धान्त अत्यन्त संकुचित सिद्धान्त है और सम्पूर्ण भाषा के अर्थ की व्याख्या करने में नितान्त असफल है। केवल सत्यापन के आधार पर मूल्यात्मक कथनों को मात्र संवेगात्मक अभिव्यक्ति मानकर इनकी उपेक्षा नहीं हो सकती।

संभवतः इसी कारण से सी.एल. स्टीवेंसन ने अर्थ के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उसका मत है कि किसी शब्द का अर्थ उस शब्द की शक्ति या प्रवृत्ति है जिससे वह श्रोता में विशेष मानसिक अवस्थाओं को उत्पन्न करता है अथवा वक्ता में इन्हीं के द्वारा उत्पन्न होता है। ये अवस्थायें या प्रतिक्रियायें दो प्रकार की होती है। प्रथम वे प्रतिक्रियाएं हैं जिनका सम्बन्ध ज्ञान, विश्वास, सूचना आदि से है। स्टीवेंसन इन्हें वर्णनात्मक या संज्ञात्मक अर्थ कहता है। दूसरे वे प्रतिक्रियायें हैं जिनका सम्बन्ध हमारे संवेगों, अनुभूतियों अथवा अभिवृत्तियों से है। इन्हें वह संवेगात्मक अर्थ कहता है। दोनों अर्थ समान परिस्थितियों में बार बार प्रयोग करने के कारण अनुकूलन की प्रक्रिया के परिणाम हैं। किन्तु वर्णनात्मक अर्थ अनुकूलन के अतिरिक्त भाषाई नियमों द्वारा निश्चितता, स्पष्टता एवं स्थायित्व प्राप्त कर लेते हैं। इनके सन्दर्भ में प्रत्यक्ष अर्थ एवं संकेतिक अर्थ अथवा लक्ष्यार्थ में अन्तर किया जाता है, किन्तु संवेगात्मक शब्दों में संकेतित अर्थ ही रहता है और भाषाई नियमों का इनके लिए कोई उपयोग नहीं है। स्टीवेंसन का मत है कि अधिकतर शब्दों में वर्णनात्मक एवं संवेगात्मक दोनों अर्थ रहते हैं तथा नैतिक शब्दों में संवेगात्मक अर्थ मुख्य एवं वर्णनात्मक अर्थ गौण होता है। वह यह भी मानता है कि संवेगात्मक अर्थ या तो वर्णनात्मक अर्थ पर निर्भर होता है, या उससे स्वतंत्र होता है या आंशिक रूप में निर्भर होता है। किन्तु स्टीवेंसन का अर्थ सिद्धान्त भी भ्रामक एवं गलत है। उसने भाषा के इलोक्युशनरी एवं पर्लोक्युशनरी पक्षों में अन्तर नहीं किया शब्दों एवं वाक्यों का मनोवैज्ञानिक प्रभाव पर्लोक्युशनरी पक्ष हैं। इसे शब्द या वाक्य का अर्थ नहीं कहा जा सकता। शब्दों का प्रभाव पड़ता है, किन्तु प्रभाव साहचर्य पर निर्भर होता है तथा एक शब्द

का भिन्न-भिन्न व्यक्तियों पर अलग-अलग प्रभाव पड़ सकता है। अतः अर्थ मानसिक प्रभाव नही है। मानसिक प्रभाव कारणात्मक सम्बन्धों पर निर्भर होता है, किन्तु अर्थ भाषाई नियमों एवं प्रयोगों पर। यहाँ तक कि संवेगात्मक अर्थ भी भाषाई नियमों से निर्धारित होता है। इसी प्रकार शब्दों के वर्णनात्मक एवं संवेगात्मक अर्थों का सम्बन्ध भी समस्यात्मक है। स्टीवेंसन का तर्कना का सिद्धान्त उसके मनोवैज्ञानिक अर्थ सिद्धान्त पर निर्भर होने के कारण संतोषजनक नहीं है।

अर्थ की सर्वाधिक संतोषजनक व्याख्या विट्गेंस्टाइन एवं आस्टिन ने किया है। विट्गेंस्टाइन के अनुसार "अधिकतर शब्दों- यद्यपि सभी का नही-का अर्थ उनका वास्तविक सन्दर्भों में प्रयोग है।" वह कहता है : "प्रयोग देखो, अर्थ नहीं।" इस दृष्टि से भाषा का कार्य केवल वस्तुओं एवं तथ्यों का वर्णन करना नहीं है। भाषा के अनगिनत, अनेकों कार्य हैं। शब्द उपकरणों के समान हैं। जिस प्रकार यंत्रों या उपकरणों के कार्य होते हैं, वैसे ही भाषा के। अतः हमें यह देखना चाहिए कि किसी निश्चित सन्दर्भ में भाषा का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है? उसका कार्य या प्रयोजन क्या है ? आस्टिन ने इन कार्यों या प्रयोजनों को वाक्कार्य माना है। किसी वाक्य के कथ्यात्मक अंश के अतिरिक्त उसकी इलोक्युशनरी शक्ति को समझना आवश्यक है। इलोक्युशनरी कार्य के आधार पर ही सम्पूर्ण वाक्य के कार्य का निश्चय होता है हेअर, टूलमिन, वार्नाक आदि ने इसी सिद्धान्त को स्वीकार किया है। इस सिद्धान्त पर भी अभी विवाद चल रहा है, किन्तु यह सिद्धान्त निश्चित रूप में सत्य के अधिक निकट है। किन्तु इस सिद्धान्त को मानने पर भी परामर्शवाद एवं नव्य प्रकृतिवाद में नैतिक तर्कना के सम्बन्ध में बहुत बड़ा विवाद है। परामर्शवाद के अनुसार नैतिक भाषा परामर्शात्मक है एवं नैतिक निष्कर्ष केवल तथ्यात्मक कथनों से निगमित नही होते। नव्य-प्रक्तिवाद की मान्यता है कि नैतिक निर्णय भी वर्णनात्मक है तथा तथ्यात्मक कथनों से नैतिक निष्कर्ष निकलते हैं।

उपरोक्त विवेचन के पश्चात् हमने नैतिक निर्णयों एवं उनके प्रमाणों के स्वरूप का विवेचन किया है। स्वाभाविक है कि यह विवेचन भी मूर से आरम्भ होता है। मूर के अनुसार नीतिशास्त्र का मुख्य प्रश्न है : शुभ क्या है? उसका, ***प्रिंसिपया*** में, विचार है कि शुभ सरल निर्प्राकृतिक

गुण है जिसका बोध केवल प्रज्ञा से होता है। किन्तु उसका विवेचन, पर्याप्त सीमा तक, इस तत्त्वमीमांसीय अश से स्वतंत्र है तथा भाषाई विश्लेषण से सम्बन्धित हैं। परवर्ती दार्शनिकों पर इसी का प्रभाव पड़ा है। जहाँ तक "शुभ" का प्रश्न है इसका ज्ञान प्रज्ञा से ही हो सकता है, इन्द्रिय प्रत्यक्ष या तर्क से नहीं। किन्तु मूर का विचार है कि "उचित", "कर्तव्य" आदि के लिए तर्क संभव है। वही कर्म या नियम उचित है अथवा कर्तव्य है जिसके द्वारा अधिक से अधिक शुभ की उत्पत्ति संभव हो या अशुभ का ह्रास एवं शुभ की वृद्धि हो। इस प्रकार के तर्क, मूर के अनुसार, केवल कारणात्मक तर्क हैं, स्पष्ट है कि कारणात्मक तर्क में नैतिक रूप से विशिष्ट कुछ भी नहीं है। रॉस के अनुसार उचित का ज्ञान भी प्रज्ञा से ही होता है। यदि दो कर्मों या कर्तव्यों में विरोध हो तो प्रज्ञा से ही यह निश्चित हो सकता है कि दोनों में अधिक वांछनीय कौन है। स्पष्ट है कि इस स्थिति में तर्कना के लिए स्थान नहीं है। इन्होंने तर्कों का प्रयोग विरोधी मतों के खण्डन के लिए किया है। और ये सामान्य प्रकार के निर्नैतिक तर्क हैं।

किन्तु मूर का नैतिक चिन्तन भावी दार्शनिकों की दिशा का निर्धारण करता है। "शुभ" का अर्थ निर्प्राकृतिक गुण मानने से कठिनाइयाँ ही उत्पन्न होती हैं। अतः परवर्ती दार्शनिकों ने नैतिक शब्दों में वर्णनात्मक एवं मूल्यात्मक या संवेगात्मक अर्थ मानकर समस्या को सरल बनाने का प्रयास किया। इनके अनुसार नैतिक शब्द पूर्णतः वर्णनात्मक नहीं होते बल्कि इनका विशिष्ट मूल्यात्मक अर्थ भी होता है। मूर का विश्वास था कि "शुभ" अपरिभाषेय है। इसके दो अर्थ किये जा सकते है। एक तो यह कि शुभ सरल निर्प्राकृतिक गुण है। दूसरा, यह कि शुभ का संप्रत्यय सरल एवं अविघटनीय है। शुभ कोई गुण न होते हुए भी विशिष्ट एवं अविश्लेष्य हो सकता है। इस सन्दर्भ में उसके "खुले प्रश्न' का महत्व भी बढ़ जाता है। अनेक परिभाषाओं का इससे खण्डन हो जाता है भले ही यह सिद्ध न हो कि शुभ की परिभाषा हो ही नहीं सकती। बाद में मूर ने दो और महत्वपूर्ण योगदान दिया। उसने बताया कि शुभ आश्रित या परिणामी गुण हैं। यदि दोनों वस्तुएं अन्य बातों में समान हैं तो उनमें एक को शुभ एवं दूसरे

को अशुभ नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार वह तर्कना का एक नया प्रारूप भी देता है। अब उसका मत है कि "शुभ" के साथ "दायित्व" भी एक मौलिक संप्रत्यय है। अतः शुभ एवं दायित्व से सम्बन्धित कुछ समान कथन निर्मित किए जा सकते हैं जिनमें एक के आधार पर दूसरे का अनुमान किया जा सकता है। अब हम देख सकते हैं कि संवेगवाद एवं परामर्शवाद में भी "शुभ" को अपरिभाषेय ही माना गया, यद्यपि कारण निर्प्राकृतिक गुण न होकर इस शब्द का विशिष्ट अर्थ है। पुनः मूर की "परिणामी गुण" की अवधारणा भी किसी न किसी रूप में परवर्ती दर्शन में विद्यमान है। हेअर ने तो खुले तौर पर इसका प्रयोग किया है। अन्य दार्शनिकों में भी तथ्यात्मक आधार वाक्य एवं मूल्यात्मक निष्कर्ष के सम्बन्ध की समस्या मूलतः "शुभ" एवं "उचित' का परिणामी स्वरूप ही है। अन्त में मौलिक नैतिक संप्रत्ययों की अपरिभाषेयता तथा प्रज्ञा से इनके ज्ञान की संभावना अभी भी एक विकल्प प्रस्तुत करती है, क्योंकि परवर्ती अधिनीतिशास्त्र नैतिक तर्कना का सर्वमान्य समाधान प्रस्तुत करने में असफल है।

प्रज्ञावाद के पश्चात् संवेगवाद में नैतिक भाषा एवं नैतिक तर्कना का शुभ अधिनीतिशास्त्र के दृष्टिकोण से विश्लेषण किया गया है। संवेगवाद एवं परामर्शवाद अवर्णनात्मक एवं असंज्ञानात्मक सिद्धान्त हैं। संवेगवाद के अन्तर्गत हमने ए.जे. एअर एवं सी.एल. स्टीवेंसन के विचारों का अध्ययन किया है। एअर के अनुसार नैतिक निर्णयों का केवल संवेगात्मक अर्थ होता है। इस प्रकार नैतिक निर्णयों का कार्य भावों को व्यक्त करना, श्रोता में इन भावों को जाग्रत करना तथा इसके माध्यम से कुछ करने या न करने के लिए प्रभावित करना है। नैतिक निर्णय निर्णीत विषय में न कोई कथन करता है न नैतिक शब्दों से इसमें कोई वृद्धि या ह्रास होता है। उदाहरण के लिए "तुमने चोरी करके अनुचित किया" वाक्य केवल चोरी के विषय में वक्ता के भावों को व्यक्त करता है।

उपरोक्त सिद्धान्त के आधार पर एअर ने नैतिक तर्कना का विवेचन किया है। उसका मत है कि नैतिक विवादों में मतभेद या तो तथ्यों के सम्बन्ध में होता है या मूल्यों के सम्बन्ध में। यदिमतभेद केवल तथ्यों के कारण है तो इसे सामान्य आगमानत्मक, निगमनात्मक तर्कों द्वारा

समाप्त किया जा सकता है। यदि विवाद में सम्मिलित दोनों पक्ष एक ही समाज के सदस्य हैं, उनकी नैतिक शिक्षा समान है, उनके मूल्य समान हैं तो उनमें मतभेद का कारण कर्म के हेतु, परिणाम आदि हो सकते हैं। इनका समाधान होने पर नैतिक विवाद समाप्त हो जाता है। किन्तु यदि दो व्यक्तियों के मूल्य एक दूसरे से भिन्न हैं तो विवाद का समाधान तर्कों द्वारा नहीं हो सकता। वे केवल अपने अपने मूल्यों को श्रेष्ठतर मानते हुए दूसरे के लिए अशिष्ट भाषा का प्रयोग भी कर सकते हैं। इसका अर्थ है कि एअर के अनुसार भी नैतिक तर्कना असंभव है।

सी. एल. स्टीवेंसन ने एअर की कमियों को पर्याप्त सीमा तक समाप्त किया है। उसके अनुसार नैतिक शब्दों एवं निर्णयों में वर्णनात्मक एवं संवेगात्मक दोनों अर्थ होते हैं एवं संवेगात्मक अर्थ मुख्य होता है। वर्णनात्मक एवं संवेगात्मक दोनों अर्थ मानने के कारण वह नैतिक विवाद की वास्तविकता स्वीकार करता है। वह मानता है कि नैतिक भाषा गत्यात्मक होती है। एवं इसका कार्य मनुष्यों की अभिवृत्तियों एवं आचरण को प्रभावित करना है। इसी विचार के परिप्रेक्ष्य में वह नैतिक विवादएवं तर्कना का विश्लेषण करता है।

स्टीवेंसन के अनुसार नैतिक विवादों में दो प्रकार की असहमतियाँ मिलती है : विश्वास सम्बन्धी असहमित एवं अभिवृत्ति सम्बन्धी असहमति। पहले का सम्बन्ध तथ्यों से होता है। यदि विवाद का कारण विश्वास सम्बन्धी असहमति है तो इसे सामान्य वैज्ञानिक एवं तार्किक युक्तियों द्वारा समाप्त किया जा सकता है। ये युक्तियाँ उसी प्रकार वैध या अवैध होती हैं जैसे सामान्य आगमनात्मक एवं निगमनात्मक युक्तियाँ। यहाँ तक एअर एवं स्टीवेंसन में कोई अन्तर नहीं है।

किन्तु स्टीवेंसन का विचार है कि विश्वास में सहमति होते हुए भी अभिवृत्तियों में असहमति हो सकती है और इसे समाप्त करने के लिए युक्तियाँ दी जाती हैं। यहाँ उसका मत एअर से भिन्न हो जाता है। वास्तव में स्टीवेंसन तीन प्रकार की युक्तियों का विवेचन करता है। प्रथम प्रकार की युक्ति का सम्बन्ध नैतिक निष्कर्ष के पक्ष में प्रासंगिक विश्वासों की स्थापना से है। इसके लिए पूर्वोक्त आगमनात्मक, निगमनात्मक तर्कना का प्रयोग होता है और इन्हें साधारण अर्थ में वैध या अवैध कहा जाता है। किन्तु इस प्रकार की युक्ति नैतिक तर्कना की पूर्व स्थिति

है। इससे केवल नैतिक युक्तियों के लिए आधार वाक्यों को खोजा जाता है। मुख्य समस्या है इनके आधार पर नैतिक निष्कर्षों का निगमन। स्टीवेंसन के अनुसार दूसरे प्रकार की तर्कना प्रेरक या प्रवर्तक युक्ति है। इसमें केवल संवेगात्मक शब्दों के प्रभाव से यह प्रयास किया जाताहै कि श्रोता हमारे निष्कर्ष को स्वीकार कर लें। इसका उद्देश्य श्रोता या विपक्षी की अभिवृत्तियों को वांछित दिशा में परिवर्तित करना है। इसके लिए प्रेरक परिभाषाओं का प्रयोग किया जाता है या केवल संवेगात्मक शब्दों का। स्टीवेंसन के अनुसार इन युक्तियों के लिए वैधता का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रवर्तक युक्तियाँ प्रभावपूर्ण या निष्प्रभावी, सफल या असफल हो सकती हैं, किन्तु इन्हें वैध या अवैध नहीं कहा जा सकता। तीसरे प्रकार की युक्तियों को वह ''तर्क देना'' कहता है। इनमें विपक्षी की अभिवृत्ति में परिवर्तन करने के उद्देश्य से कुछ कथनों का प्रयोग किया जाता है जो मनोवैज्ञानिक या कारणात्मक रूप से अभिवृत्ति को प्रभावित करते हैं। इन युक्तियों के सम्बन्ध में स्टीवेंसन का कहना है यद्यपि इनका आकार आगमनात्मक या निगमनात्मक नहीं होता, फिर हम अनुमान की बात करते हैं। इनकी विशेषता यह है कि तथ्यात्मक हेतुओं से नैतिक निष्कर्ष निकाला जाता है। अतः प्रश्न उठता है कि क्या नियामक युक्तियों के लिए कोई भिन्न प्रकार की वैधता हो सकती है। कुछ हिचकिचाहट के पश्चात् स्टीवेंसन इसका निषेधात्मक उत्तर ही देता है। उसका कहना है कि वैधता का लक्ष्य सत्य की स्थापना है। किन्तु नैतिक युक्तियों में तथ्यात्मक आधार वाक्यों से नैतिक निष्कर्ष निकलता है। नैतिक निर्णय अपने तथ्यात्मक अर्थ के कारण आंशिक रूप से ही सत्य या असत्य होते हैं, पर इनका संवेगात्मक अर्थ आदेशात्मक होने से सत्य या असत्य नहीं होता। अतः नैतिक युक्तियाँ वैध या अवैध नहीं होती। पर उसका मत है कि इन युक्तियों का मूल्यांकन अन्य विधियों से होता है, उदाहरण के लिए इनमें संज्ञात्मक पक्ष है या नही, ये मनमानी युक्तियाँ तो नहीं हैं, इत्यादि। उसके अनुसार किसी विशेष विधि का चुनाव स्वयं एक नैतिक विवेचन है।

वास्तव में स्टीवेंसन नैतिक युक्तियों का स्वरूप स्पष्ट करने में पूरी तरह से विफल है। संवेगात्मक शब्दो का प्रयोग एवं प्रवर्तक विधियों का प्रयोग युक्ति है ही नहीं। तीसरी युक्ति

वास्तव में युक्ति हो सकती है, किन्तु यहाँ भी उसने तार्किक सम्बन्धों के स्थान पर केवल मनोवैज्ञानिक सम्बन्धों को ही स्वीकार किया है। उसका मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त ही युक्तियों का स्वरूप नष्ट कर देता है।

टूलमिन की स्थिति निश्चित रूप से अधिक उपयुक्त है। टूलमिन ने अर्थ के सम्बन्ध में विट्गेंस्टाइन के प्रयोग सिद्धान्त को माना है। किन्तु उसका विवेचन करने के पूर्व हेअर के परामर्शवाद का विश्लेषण उपयोगी हैं। हेअर ने स्टीवेंसन के संवेगवाद का खण्डन किया है। वह विट्गेंस्टाइन एवं आस्टिन के सिद्धान्तों को अपने विवेचन का आधार मानता है। उसके अनुसार नैतिक भाषा न वर्णनात्मक है न संवेगात्मक। नैतिक भाषा एक प्रकार की परामर्शात्मक भाषा है। इसका प्रयोग हमारे आचरण का मार्ग दर्शन करने के लिए किया जाता है। यदि कोई व्यक्ति यह प्रश्न करता है कि उसे क्या करना चाहिए तो वह प्रभाव की माँग नहीं करता, बल्कि मार्गदर्शन चाहता है। किसी से कहना कि तुम्हें अमुक कार्य करना चाहिए एक बात है और उसे वह कार्य करने के लिए प्रेरित करना दूसरी बात है।

हेअर के अनुसार नैतिक एवं तथ्यात्मक कथनों में विषय वस्तु समान होती है केवल उनकी शैलियों में अन्तर होता है। विषय-वस्तु को इंगित करने वाले शब्दों को वह फ्रैस्टिक्स तथा शैली को व्यक्त करने वाले शब्दों को न्युस्टिक्स कहता है। फ्रैंस्टिक्स वर्णनात्मक अर्थ है। वह मानता है कि नैतिक निर्णयों में वर्णनात्मक एवं मूल्यात्मक अथवा प्रशंसात्मक दोनों अर्थ होते हैं। वर्णनात्मक अर्थ के कारण नैतिक निर्णयों पर सभी तार्किक नियम लागू होते हैं। वर्णनात्मक अर्थ के कारण ही नैतिक निर्णय सार्वभौमिक होते हैं एवं साधारण आदेशों से भिन्न होते हैं। पर वह मानता है कि प्रत्येक मूल्यात्मक निर्णय, विशेष रूप से नैतिक निर्णय एक आदेश अनुलग्रित करता है। इसी के माध्यम से नैतिक निर्णय हमारे कर्म से सम्बन्धित होता है और कर्म करने या न करने का परामर्श देता है। जहाँ तक "शुभ", "उचित" आदि शब्दों का

प्रश्न है इनमें भी वर्णनात्मक एवं मूल्यात्मक दोनों अर्थ होता है एवं मूल्यात्मक अर्थ मुख्य होता है। इसी लिए वह मानता है कि "शुभ" आदि की परिभाषा नहीं हो सकती है।

नैतिक तर्कना के सम्बन्ध में हेअर का सिद्धान्त अब तक जिन सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है उन सबसे अधिक संतोषजनक है। वह मानता है कि नैतिक युक्तियाँ व्यावहारिक न्याय वाक्य हैं। इनमें आधार वाक्यों से नैतिक निष्कर्षों का निगमन वैसे ही होता है, जैसे कि अरस्तू के निरपेक्ष न्याय वाक्य से। उसके अनुसार व्यावहारिक न्याय वाक्य एक विशेष नियम से निर्धारित होता है। वह नियम है :

"कोई भी आदेशात्मक निष्कर्ष वैध रूप से ऐसे आधार वाक्यों से निगमित नहीं किया जा सकता जिनमें कम से कम एक आधार वाक्य आदेशात्मक न हों।"

हेअर के अनुसार नैतिक तर्कना के लिए दो अन्य बातें भी अनिवार्य हैं :

(1) नैतिक तर्कना का तर्कशास्त्र निगमनात्मक एवं विश्लेषणात्मक है। विश्लेषणात्मक का अर्थ है कि निगमन का आधार तार्किक शब्दों का अर्थ है।

(2) नैतिक तर्कना का सम्बन्ध वास्तविक विषय वस्तु से है। इसका अर्थ है कि इसके निष्कर्ष में यह आदेश रहता है कि ऐसा करो।

वह मानता है कि केवल वर्णनात्मक आधार वाक्यों से मूल्यात्मक निष्कर्ष प्राप्त नहीं हो सकता। यहाँ वह मूर के प्रकृतिवादी तर्कदोष को स्वीकार करते हुए तथ्य एवं मूल्य में अन्तर मानता है। उसका विचार है कि वैध नैतिक युक्तियों का मुख्य आधार वाक्य नैतिक नियम या मानदण्ड होता है जो मूल्यात्मक निर्णय है। अमुख्य आधार वाक्य निष्कर्ष से सम्बन्धित तथ्यात्मक कथन होता है। निष्कर्ष मूल्यात्मक निर्णय होता है। निगमन का तार्किक स्वरूप स्पष्ट करने के लिए मूल्यात्मक आधार वाक्य एवं मूल्यात्मक निष्कर्ष को आदेशात्मक कथनों में रूपान्तरित किया जा सकता है।

प्रश्न यह है कि मुख्य आधार वाक्य कैसे प्राप्त होता है? हेअर के अनुसार मुख्य आधार वाक्य में आचरण विषयक सिद्धान्तों का प्रयोग होता है। किन्तु इन सिद्धान्तों का स्वरूप क्या है? हेअर का मत है कि ये सिद्धान्त स्वतः सिद्ध नहीं होते, न उच्चतर स्वतः सिद्ध नियमों से निगमित किए जा सकते हैं। इनका किसी तथ्य से आपादनात्मक सम्बन्ध भी नहीं होता, न इन्हें तथ्यों पर आश्रित सामान्यीकरण माना जा सकता है। *लैंग्वेज आफ मॉरल्स* के अनुसार ये नियम हमारे निर्णय के परिणाम हैं। किन्तु यही समस्या उत्पन्न होती है। नैतिक युक्तियाँ निगमनात्मक होने से वैध या अवैध होती है। इस दृष्टि से नैतिक युक्तियां वस्तुनिष्ठ एवं बौद्धिक हैं। किन्तु मुख्य आधार वाक्य में निहित नैतिक सिद्धान्तों के कर्ता के निर्णय का परिणाम मान लेने से नैतिक तर्कना की वस्तुस्थिति पर संशय आ जाता है। इसका कारण यह है कि इन निर्णयों का कोई वस्तुनिष्ट आधार नहीं रह जाता। इसीलिए अनेकों आलोचकों ने हेअर के नैतिक सिद्धान्तों को स्टीवेंसन की प्रवर्त्तक परिभाषाओं के समान मान लिया है। यदि मुख्य आधार वाक्य मेरे निर्णय पर निर्भर हैं तो नैतिक तर्क की वस्तुनिष्ठता किस प्रकार संभव होगी? वार्नाक का विचार है कि हेअर के अनुसार हम अपने प्रमाणों का चुनाव स्वयं ही करते हैं। यह सत्य है कि कभी कभी जब नैतिक सिद्धान्त उपलब्ध न हों या अस्पष्ट हों तो सिद्धान्तों का चुनाव निर्णय से ही हो सकता है, किन्तु प्रत्येक सिद्धान्त को व्यक्तिगत निर्णय मानने से तर्कना की संतोषजनक व्याख्या नहीं हो पाती। यदि हेअर की व्याख्या को मान लिया जाए तो नैतिक सिद्धान्तों का औचित्य सिद्ध करना असंभव है। नैतिकता का अन्तिम आधार केवल प्रत्येक व्यक्ति का अबौद्धिक निर्णय है। हेअर ने इन सिद्धान्तों की तुलना वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं से किया है जिनकी पुष्टि हमारे निर्णयों से होती है। पर यह सादृश्य स्पष्ट नहीं है विशेष रूप से जब हेअर मानता है कि निर्णय के पूर्व सिद्धान्त होते ही नहीं।

फ्रीडम ऐण्ड रीजन तथा अन्य कृतियों में हेअर ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि सिद्धान्तों का निर्णय मनमाने ढंग से नहीं होता है। सिद्धान्तों का वस्तुनिष्ठ एवं निर्वैयक्तिक रूप देने का

प्रथम आधार सार्वभौमिकता का नियम है। यहाँ वह कांट से प्रभावित है, किन्तु कांट के विपरीत उसका मत है कि सार्वभौमिकता का नियम नैतिक न होकर तार्किक है। जब भी कोई व्यक्ति किसी कर्म का चुनाव करता है तो यह समझना आवश्यक है कि उसे सार्वभौमिक रूप दिया जा सकता है या नही। जिस कर्म या सिद्धान्त को सार्वभौमिक रूप नहीं दिया जा सकता उसे नैतिक नहीं माना जा सकता। इस नियम से मन माना पन, पक्षपात आदि की संभावना समाप्त हो जाती है। इस नियम के प्रतिमूल रूप से दो आक्षेप किये जाते हैं। प्रथम यह कि ऐसे भी नैतिक कर्म संभव हैं, एवं होते है, जिन्हें सार्वभौमिक रूप देने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु किसी स्थिति विशेष को चाहे जिस सीमित रूप में लिया जाए उस प्रकार की स्थिति में यदि उस कर्म का पालन सार्वभौमिक नही हो सकता तो उसे केवल व्यक्तिगत निर्णय कहा जा सकता है, नैतिक नहीं। दूसरा आक्षेप यह है कि किसी भी नियम को सार्वभौमिक रूप दिया जा सकता है किन्तु सभी नियमों को नैतिक नहीं माना जा सकता। इसी आपत्ति से बचने के लिए हेअर ने तीन अन्य तत्त्वों को भी अनिवार्य माना है। इन्हीं के परिप्रेक्ष्य में सिद्धान्तों का निर्णय हो सकता है। ये तत्व हैं तथ्य, अन्य व्यक्तियों की इच्छायें तथा हित, एवं कल्पना शक्ति। किसी भी कर्म या नियम से सम्बन्धित निर्णय लेते समय अथवा किसी कर्म पर नैतिक निर्णय देते समय सभी प्रासंगिक तथ्यों पर विचार करना आवश्यक है इसी प्रकार हमें यह भी देखना चाहिए कि हमारे निर्णय का अन्य व्यक्तियों की इच्छाओं एवं हितों पर क्या प्रभाव पड़ेगा। इसके लिए व्यक्ति में कल्पना की आवश्यकता है। अर्थात् हम स्वयं को दूसरों की स्थिति में इन्हीं की इच्छाओं एवं हितों के साथ होने की कल्पना कर सकें, न कि अपनी इच्छाओं के साथ। यदि मुझसे किसी ने ऋण लिया है और उसे वापस करने में विलम्ब कर रहा है, और इस कारण मैं उसे दण्डित करने का निर्णय लेता हूँ, तो मुझे कल्पना करनी चाहिए कि यदि उसके स्थान पर मैं होता तो क्या मैं दण्ड स्वीकार करता। यदि मै दण्ड स्वीकार नहीं करना चाहता तो मुझे उसे दण्ड नहीं देना चाहिए। इस प्रकार तथ्यों, अन्य व्यक्तियों की इच्छाओं तथा हितों को ध्यान में रखकर सार्वभौमिकता के आधार पर सिद्धान्तों का निर्णय करना पर्याप्त सीमा तक सीमित हो जाता है। हम जो भी चाहें वैसा निर्णय नहीं कर सकते। हमारे निर्णय अनिवार्यतः

सभी व्यक्तियों के हितों से सम्बन्धित होते हैं। इसी कारण वस्तुनिष्ठता, बौद्धिकता एवं निर्वैयक्तिकता के तत्त्व हमारे निर्णयों का निर्धारण करते है।

किन्तु उपरोक्त शर्तों को मानते हुए भी हेअर दो अपवादात्मक स्थितियों का समर्थन करता है। प्रथम वह ऐसे हठी व्यक्ति की स्थिति संभव मानता है जो सार्वभौमिकता का ध्यान रखता है किन्तु हितों की उपेक्षा करता है। इस उपेक्षा में केवल अन्य व्यक्तियों का हित ही नहीं; उसका अपना भी हित सम्मिलित है। उदाहरण के लिए एक नाजी यह निर्णय लेता है कि सभी यहूदियों की हत्या कर दी जाए। यदि उसे बताया जाए कि उसके माता-पिता भी यहूदी थे, तो वह उत्तर दे सकता है कि उसकी तथा उसके परिवार के सदस्यों की भी हत्या कर दी जाए। अन्य दार्शनिक ऐसे निर्णयों को नैतिक निर्णय नहीं मानेंगे, किन्तु हेअर इसे नैतिक निर्णय मानता है। किन्तु वह कहता है कि यह आपातिक किन्तु व्यापक सत्य है कि कुछ व्यक्तियों को छोड़कर हम सभी अपनी इच्छाओं एवं हितों का ध्यान रखते हैं। अतः हठी व्यक्ति, संख्या में नगण्य होने के कारण, सामान्य नैतिकता के लिए बाधक नहीं हो सकते। दूसरी स्थिति आदर्शवादी व्यक्ति की है। ऐसा व्यक्ति अपने आदर्श को व्यक्तियों के हितों से अधिक महत्व देता है। उदाहरण के लिए यदि कोई युवती क्लबों में अन्य व्यक्तियों के मनोरंजन के लिए नृत्य करते हुए विर्वस्त्र हो जाती है तो इससे किसी का अहित नहीं होता उसे अच्छे रूपये मिलते हैं एवं दर्शकों को मनोरंजन फिर भी आदर्शवादी व्यक्ति इसे मानव गरिमा के प्रतिकूल मानकर अनुचित कहता है। इन स्थितियों को स्वीकार करने के लिए कुछ आलोचकों, विशेष रूप से नव्य-प्रकृतिवादियों का मत है कि परामर्शवाद के अन्तर्गत नैतिक तर्कना अन्ततः औचित्य रहित सिद्धान्तों पर निर्भर हो जाती है।

नव्य प्रकृतिवाद के पूर्व टूलमिन के विचारों का विवेचन उपयोगी है। टूलमिन विट्गेंस्टाइन का अनुसरण करते हुए कहता है कि उसने किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया है। वह केवल इस तथ्य को प्रस्तुत करता है कि नैतिकता में वास्तव में किस प्रकार तर्क दिये जाते हैं। उसका मत है कि नैतिकता के क्षेत्र में सबसे अधिक महत्व युक्तियों का है, नैतिक शब्दों

अथवा नैतिक निर्णयों का नही। अतः हमें सीधे यह प्रश्न उठाना चाहिए कि नैतिक युक्तियां क्या हैं। इसी प्रकार वह मानता है कि नैतिक तर्कना में तथ्यात्मक कथनों से मूल्यात्मक निष्कर्ष निकाले जाते हैं। सभी क्षेत्रों में यह आवश्यक नहीं है कि युक्तियाँ निगमनात्मक या आगमनात्मक हैं। अच्छे तर्कों से निष्कर्ष निकल सकते हैं तथा युक्ति वैध हो सकती है। उसका यह भी मत है कि नैतिक निर्णय वर्णनात्मक नियमों के समान सत्य या असत्य होते हैं। किन्तु सत्यता के लिए अनुरूपता की आवश्यकता नहीं है। किसी नैतिक निर्णय के सत्य होने का अर्थ है कि इसके पक्ष में अच्छे तर्क दिये जा सकते हैं। इसीलिए उसका मत अच्छे तर्कों का सिद्धान्त माना जाता है।

टूलमिन के अनुसार नैतिक युक्तियां दो प्रकार की होती हैं : कर्तव्य से सम्बन्धित एवं सिद्धान्त से सम्बन्धित। दोनों प्रकार की युक्तियॉ किसी समुदाय के सन्दर्भ में ही संभव है। प्रथम प्रकार की युक्तियों का सम्बन्ध हमारे विशेष कर्मों से हैं। यदि कर्म समुदाय में स्वीकृत किसी नैतिक नियम के अनुरूप है तो उचित है। उदाहरण के लिए :

अ ब है।

इसलिए अ उचित है।

यहॉ निष्कर्ष अर्थ या तार्किक नियमों द्वारा नहीं निकलता। ''अ ब है'' ''अ उचित है'' का तर्क या हेतु है। निगमन का आधार है '' जो भी ब है उचित है'' जो समुदाय में स्वीकृत नैतिक नियम है। किन्तु इसे टूलमिन आधार-वाक्य के रूप में नही रखता। यह टूलमिन के लिए एक प्रकार का अनुमान का नियम है, इसीलिए टूलमिन नैतिक युक्तियों के लिए ''मूल्यात्मक अनुमान'' का प्रयोग करता है। समुदाय में स्वीकृत नैतिक नियम ही विशेष कर्मों के औचित्य के सन्दर्भ में अनुमान के नियम का कार्य करते है।

युक्तियों का दूसरा प्रकार तब प्रयोग किया जाता है जब कोई परीक्ष्य स्थिति हो अथवा किसी नैतिक नियम के औचित्य का प्रश्न हो। बहुत सी ऐसी स्थितियों आती हैं जिनमें प्रस्तावित

कर्म स्पष्ट रूप से किसी स्वीकृत नियम के अन्तर्गत नहीं आता। टूलमिन के अनुसार ऐसी स्थिति में *नीतिशास्त्र के कार्य* अर्थात् ''व्यक्तियों के हितों के सामंजस्य'' को ध्यान में रखते हुए कर्मों के परिणामों के सामाजिक महत्व के आधार पर उनका औचित्य सिद्ध किया जा सकता है। ऐसी युक्ति आकार है :

अ से सामाजिक सामंजस्य उत्पन्न होता है :

इसलिए अ उचित है।

यहाँ अनुमान का नियम सामाजिक सामंजस्य का सिद्धान्त ''जो भी सामाजिक सामंजस्य उत्पन्न करता है, उचित है'' है। क्या यह नियम अन्य नैतिक नियमों के समान स्वयं एक नैतिक नियम है? टूलमिन ऐसा नहीं मानता। उसके अनुसार दो प्रकार के नैतिक तर्क होते हैं, एवं प्रत्येक का अपना तार्किक निकष या कसौटी है। प्रथम प्रकार तर्कों का निकष नैतिक नियम हैं एवं दूसरे प्रकार के तर्कों का निकष सामाजिक सामंजस्य है। कर्नर आदि आलोचकों का मत है कि पहले प्रकार की युक्तियाँ सामुदायिक नैतिक नियमों को यथावत स्वीकार कर लेने के कारण वास्तविक रूप में नैतिकता का निर्धारण नहीं कर सकती। दूसरे प्रकार की युक्तियों का निकष केवल एक विशेष नैतिक आदर्श की संस्तुति है। प्रश्न है कि दूसरे आदर्श क्यों नहीं? अर्थात् टूलमिन की नैतिक तर्कना की अवधारणा भी उपयुक्त नहीं है।

उपरोक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि मुख्य समस्या नैतिक युक्तियों के निकष (टूलमिन) एवं आधार वाक्यों (हेअर) के औचित्य की है। दोनों में वस्तुनिष्ठता का अभाव दिखाई पड़ता है, एवं नैतिक युक्तियों की संभावना एवं स्वरूप की समस्या का निर्वैयक्तिक समाधान नही हो पाता है। इसी लिए फिलिपा फुट, वार्नाक आदि ने नव्य प्रकृतिवाद का समर्थन किया है। इन दार्शनिकों के अनुसार नैतिक युक्तियाँ तभी संभव हैं। जब इन्हें पूर्णतः वर्णनात्मक कथनों के समान माना जाए। इसके लिए आवश्यक है कि नैतिक कथनों को मुख्य रूप से तथ्यात्मक माना जाए केवल मूल्यात्मक नहीं; इन्हें तथ्यात्मक कथनों के समान सत्य या असत्य माना जाए; तथ्य एवं मूल्यों के अन्तर को समाप्त किया जाए एवं कुछ तथ्यों को नैतिक तथ्यों के रूप में

स्वीकार किया जाए। वास्तव में नव्य प्रकृति वादियों ने प्रकृतिवाद एवं परामर्शवाद से कुछ सिद्धान्तों को लेकर उनका समन्वय करने का प्रयास किया है। नव्य-प्रकृतिवाद की दो मुख्य मान्यताएं हैं।

1. नैतिक निर्णय में वर्णनात्मक एवं मूल्यात्मक अर्थों को सदैव एक दूसरे से पृथक करना संभव नहीं है।

2. नैतिक निर्णयों में प्रयोग किए जाने वाले निकष अन्तिम रूप में केवल हमारे स्वतंत्र चयन पर निर्भर नहीं है। इन मान्यताओं के आधार पर इनका मत है कि नैतिक भाषा केवल परामर्शात्मक नही है। साधारण भाषा के समान नैतिक भाषा के भी अनेकों कार्य है। किसी नैतिक निर्णय को स्वीकार करने का अर्थ उससे तथाकथित रूप से अनुलग्नित आदेश को स्वीकार करना या किसी वस्तु को शुभ कहने या अर्थ उसे चुनना नहीं है। अर्थ के आधार पर ही "आवश्यकता", "हित" आदि का "नैतिकता" से अनिवार्य सम्बन्ध है। यदि "अ' हमारी आवश्यकता है तो 'अ' अवश्य शुभ है। यदि 'क' से हमारा हित होता है तो 'क' अवश्य उचित है। 'शुभ' एवं 'उचित' का निकष व्यक्ति मनमाने ढंग से नहीं चुन सकता। "इच्छा", 'आवश्यकता' एवं हित प्रदत्त नैतिक तथ्य है। बिना इन्हें स्वीकार किये यह नैतिकता संभव है, न नैतिक तर्कना। नैतिकता का निर्धारण विशेष विषय-वस्तु '(इच्छा, आवश्यकता, एवं हित) से होता है, केवल आकार से नहीं। इसीलिए हठी एवं हठी आदर्श नैतिकता के अन्तर्गत् सम्मिलित नहीं किए जा सकते। वार्नाक का दावा है कि यद्यपि यह सत्य है कि कोई व्यक्ति किसी वस्तु की इच्छा कर सकता है, किसी वस्तु को शुभ कह सकता है, किन्तु समझदारी की मांग है कि इसकी सीमा अवश्य है। वस्तुनिष्ठ रूप से हम यह अवश्य मानेंगे कि निर्दोष व्यक्ति को दुःख देना अनुचित है, प्रेम शुभ है, भूखा रखना अनुचित है, सहायता करना उचित है, दूसरे शब्दों में इच्छा, आवश्यकता तथा हित के द्वारा 'है' एवं 'चाहिए' का अन्तराल समाप्त हो जाता है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि नैतिक तर्कना के सम्बन्ध में मुख्य विवाद परामर्शवाद एवं नव्य प्रकृतिवाद के मध्य है। यह विवाद अभी भी चल रहा है। परामर्शवाद के अनुसार आकार द्वारा तथा नव्य-प्रकृतिवाद के अनुसार विषय-वस्तु द्वारा ही नैतिक तर्कना को समझा जा सकता है। ऐसा नहीं है कि हेअर ने इच्छा आवश्यकता एवं हितों की उपेक्षा किया है। किन्तु प्रश्न यह है कि नैतिकता का इच्छा, आवश्यकता एवं हित से किस प्रकार का सम्बन्ध है? फुट एवं वार्नाक के अनुसार इनमें तथा नैतिकता में विश्लेषणात्मक अथवा तार्किक सम्बन्ध होता है। उदाहरण के लिए आवश्यकता से ही शुभ तथा उचित का निर्धारण होता है। हेअर के अनुसार शुभ एवं उचित का निर्धारण करने के लिए आवश्यकता एवं हितों पर ध्यान देना आवश्यक है। प्रश्न है क्या नव्य प्रकृतिवादियों का मत सत्य है कि आवश्यकता ही नैतिक संप्रत्ययों का निर्धारक तत्व है?

इस प्रश्न पर परामर्शवाद एवं नव्य प्रकृतिवाद के मतभेदों से हटकर कर अनेकों दार्शनिकों द्वारा विचार किया गया है। इस प्रबन्ध में इस पर विस्तार से विचार करना संभव नहीं है। केवल संक्षेप में इसका विवेचन कर सकते हैं। ''आवश्यकता'' एवं ''चाहिए'' को एक मानने के पक्ष में कई दार्शनिकों ने तर्क दिया है। इनके अनुसार ''चाहिए'' की परिभाषा से ही सिद्ध होता है कि हमें वह करना चाहिए जो हम करना चाहते हैं। किन्तु अनेकों दार्शनिकों ने इसका खण्डन किया है। एक तर्क यह दिया जाता है कि 'चाहिए' के लिए तर्क आवश्यक है किन्तु ''इच्छा'' के लिए नहीं। पर कभी-कभी दोनों के लिए तर्क आवश्यक है, कभी एक के लिए भी नहीं।

इसी प्रकार अन्य तर्क भी दिये गये हैं किन्तु उनके आधार पर ''चाहिए'' एवं ''इच्छा'' (आवश्यकता) में अन्तर नहीं किया जा सकता। डब्लू. डी. हडसन के ***माडर्न मॉरल फिलासफी*** में एक तर्क दिया है जो बताता है कि दोनों में अन्तर करना आवश्यक है। ''इच्छा'' का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है : वर्णनात्मक अर्थ एवं मूल्यात्मक अथवा चयनात्मक अर्थ। **इच्छा का वर्णनात्मक अर्थ लेने पर चाहिए की परिभाषा चाहता है या इच्छा करता है के रूप**

में नही हो सकती। यदि चाहिए की परिभाषा चाहता है या इच्छा करता है के रूप में की जाती है तो यह अर्थ केवल मूल्यात्मक ही हो सकता है। किन्तु मूल्यात्मक अथवा चयनात्मक अर्थ के लिए मूल्यात्मक अथवा चयन का निकष आवश्यक है। इन्हीं नियमों के द्वारा ''चाहिए'' एवं ''इच्छा'' का अन्तर समाप्त किया जा सकता है। ये नियम विश्लेषणात्मक नहीं है। अतः ''चाहिए'' एवं ''इच्छा'' का अन्तर परिभाषाओं द्वारा समाप्त नही हो सकता। अन्य शब्दों में चाहिए का अर्थ चाहता है पर इच्छा करता है नहीं है।

क्या इच्छा करता ''चाहिए'' के लिए निश्चायक प्रमाण है? ए. सी. मैकिन्टायर का मत है कि ''है'' से चाहिए सिद्ध करने के लिए कुछ मध्यवर्ती सप्रत्यय आवश्यकता है। जैसे चाहना, इच्छा करना, आवश्यकता, सुख, प्रसन्नता, स्वास्थ्य आदि। बिना इन संप्रत्ययों के नैतिक अवधारणायें बोध गम्य नहीं हैं। दूसरे शब्दों में इच्छा एक ऐसा मध्य वर्ती संप्रत्यय हैं जिसके आधार पर है से ''होना चाहिए'' का निश्चयात्मक रूप से निगमन किया जा सकता है। यदि मैं कहता हूँ ''मुझे अमुक कर्म करना चाहिए'' और मुझसे पूँछा जाता है ''क्यों'' तो एक मात्र तार्किक उत्तर है ''क्योंकि मैं अमुक कर्म करना चाहता हूँ''। यदि मैं कोई दूसरा अन्तर देता हूँ जैसे ''क्योंकि मैने अमुक कर्म करने का वादा किया है।'' तो प्रश्न उठेगा ''वादा क्यों पूरा किया जाए।'' ज़बकि मैं चाहता हूँ' के लिए कोई प्रश्न नही किया जा सकता। यह अन्तिम उत्तर है। कुर्त बेअर ने भी ***मारल पाइन्ट आफ व्यू*** में इसी मत का समर्थन किया है। उसके अनुसार नैतिकता का सम्बन्ध कर्म से है, अतः कर्म से सम्बन्धित तथ्य ही निकष हो सकते हैं। इसके लिए ''मैं चाहता हूँ'' से अधिक सवल प्रमाण संभव ही नही है।

इच्छा चाह, आवश्यकता आदि का नैतिकता से निश्चित रूप में सम्बन्ध हैं। इनके अभाव में नैतिकता ही संभव नहीं है। किन्तु क्या इन्हें मध्यवर्ती संप्रत्यय मान कर 'है' एवं 'होना चाहिए'' क्या अन्तरा भरा जा सकता है? 'नैतिक' के भी दो प्रयोग हैं : मूल्यात्मक अर्थ एवं वर्गीरण का अर्थ प्रथम अर्थ में 'नैतिक' का विरोधी शब्द 'अनैकित' है, दूसरे अर्थ में 'अ-नैतिक' या 'निर्नैतिक' इसी प्रकार हम नैतिक क्यों हो? को दोनों अर्थों में लिया जा सकता है। यदि

हम नैतिक क्यों हों? नैतिक भाषा का आन्तरिक प्रश्न है तो इसका उत्तर भी नैतिक संप्रत्ययों द्वारा ही दिया जा सकता है। यदि इसे दूसरे या बाह्य अर्थ में लेते हैं तभी तथ्यात्मक संप्रत्ययों के आधार पर उत्तर दिया जा सकता है। इस अन्तर पर ध्यान न देने से ही इच्छा, चाहना आदि के द्वारा चाहिए के पक्ष में तर्क दिया जाता है। उदाहरण के लिए फिलिया फुट ने *मॉरल फिलीक्स* में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि नैतिक हो या न्याय का अनुसरण करना इसलिए आवश्यक है कि इससे सभी की इच्छाओं एवं हितों की संतुष्टि होती है। पर स्पष्ट है कि न्याय या नैतिक का प्रमाण या प्रयोजन न्याय या नैतिकता में ही निहित हैं। यदि इसे बाह्य प्रश्न माना जाए तभी इच्छाओं, आवश्यकताओं आदि की बात की जा सकती है। नैतिकता की अपनी स्वायत्तता है। न्याय, शुभ आदि की व्याख्या निर्नैतिक संप्रत्ययों द्वारा नही हो सकती, इससे सिद्ध होता है कि कुछ व्यक्ति या सभी व्यक्ति वास्तव में क्या चाहते हैं इस आधार पर यह सिद्ध नहीं होता कि उन्हें वही करना चाहिए जो सभी चाहते हैं। अन्य शब्दों में इच्छा उचित के लिए निश्चयात्मक प्रमाण नहीं है। हम कह सकते हैं कि इच्छा न तो नैतिक संप्रत्ययों की परिभाषा दे सकती है न निश्चयात्मक प्रमाण।

वास्तव में इच्छा, चाहना आदि नैतिकता के लिए आवश्यक हैं। यदि इच्छायें न हो एवं संसार में जो भी घटित होता है उसका मनुष्यों पर प्रभाव न पड़े तो नैतिकता संभव ही नहीं होगी। किन्तु प्रश्न यह है कि नैतिकता का अथवा नैतिक तर्कना का इनसे किस प्रकार का सम्वन्ध है। हेअर का मत है कि जव हम कुछ करना चाहते है तभी नैतिक सिद्धान्तों का प्रश्न उठाते है। हमारा निर्णय नैतिक हो इसके लिए आवश्यक है कि हम जिस सिद्धान्त का चयन कर रहे हैं उसे सार्वभौमिक रूप दिया जा सके। किन्तु सार्वभौमिकता पर विचार करते समय अन्य व्यक्तियों की इच्छाओं एवं हितों पर ध्यान देना आवश्यक है। हेअर के अनुसार यदि इच्छाओं एवं हितों की हानि नहीं हो रही है तो किसी भी सिद्धान्त का चयन करने के लिए व्यक्ति स्वतंत्र हैं। पर नव्य प्रकृतिवादियों के अनुसार कुछ आवश्यकतायें ऐसी हैं जिन्हें

सभी को स्वीकार करना पड़ता है। इन्हें हम नैतिक तथ्य भी कह सकते हैं एवं इन्हीं को नैतिक तर्कना में आधार वाक्य के रूप में मानना आवश्यक है। हम मनमाने ढंग से इनका चुनाव नही कर सकते, न इनकी उपेक्षा कर सकते है। 'आवश्यकता' के अर्थ में ही निहित है कि जो आवश्यक है वह सन्दर्भ के अनुसार शुभ या उचित है। इसी प्रकार, उनके अनुसार 'दुख', 'कष्ट', 'भूख' 'प्रेम' 'हित' आदि ऐसे तथ्य है। जो निश्चित रूप से नैतिक प्रमाण हैं तथा इनके आधार पर नैतिक तर्कना पूर्णतः वैध होती हैं।

इस सन्दर्भ में हेअर के विचार अत्यन्त उपयोगी है। हेअर एवं नव्य प्रकृतिवादी दोनों मानते हैं कि ऐसे शब्द वर्णनात्मक एवं मूल्यात्मक दोनो है। किन्तु नव्य प्रकृतिवाद के अनुसार इन शब्दों में वर्णनात्मक एवं मूल्यात्मक अर्थों को एक दूसरे से पृथक नही किया जा सकता। हेअर का मत है कि नव्य प्रकृतिवादी इन शब्दों के मूल्यात्मक एवं वर्णनात्मक अर्थों के सम्बन्ध को ठीक से समझ नहीं पाते। हेअर के अनुसार वर्णन का मूल्यांकन से दो प्रकार का तार्किक सम्बन्ध होता है। (1) मूल्यांकन वर्णन पर आश्रित होता है। (2) जिन शब्दों का प्रयोग किया जाता है वे इस प्रकार के हैं कि वर्णन के अन्तर्गत वर्णन एवं मूल्यांकन तार्किक रूप से घनिष्ठता से सम्बन्धित हैं। यदि हम कहते हैं कि कोई वस्तु शुभ हैं तो यह पूँछा जा सकता है कि इसमें शुभकैसे है। यह प्रथम प्रकार का सम्बन्ध है। अधिक स्पष्ट रूप से यह कह सकते हैं कि यह शुभ है क्योंकि इसमें अ, ब, स, गुण हैं। दूसरी तरफ यदि हम कहते हैं कि "उस व्यक्ति ने साहस' पूर्ण किया तो मैं यह नहीं कह सकता कि उसने ऐसा कार्य करके उचित नही किया। इसमें वर्णनात्मक तत्त्व तार्किक रूप से मूल्यात्मक से सम्बद्ध है। हेअर के अनुसार वर्णनवादी दार्शनिक दो प्रकार की गलतियाँ करता है। एक तो वह इन दोनों सम्बन्धों को अनेकार्थक रूप में लेता है। अर्थात् वह आश्रितता एवं तार्किक सम्बन्ध को परस्पर मिला देता है। दूसरे वह जो शब्दों के लिए सत्य है उसे वस्तुओं के लिए भी सत्य मान लेता है। यदि हम किसी वस्तु को आवश्यक कहते हैं तो उसे आवश्यक कहने में एवं उसे अच्छा 'शुभ' कहने में तार्किक सम्बन्ध हैं। हेअर इसे स्वीकार करता है। किन्तु वह कहता है कि यह तार्किक

सम्बन्ध 'आवश्यक' शब्द एवं 'शुभ' के सम्बन्ध मे है। जिस वस्तु को आवश्यक कहा जाता है। उसे तार्किक रूप से शुभ कहना अनिवार्य है, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि किसी विशेष वस्तु को आवश्यक माना जाए। हेअर के अनुसार किसी भी वस्तु को शुभ माना जा सकता है।

हेअर का विचार है कि यदि किसी वस्तु को आवश्यक माना जा सकता है तो उसी रूपमें किसी भी वस्तु को आवश्यक नहीं भी माना जा सकता। मनुष्य जिसे मौलिक आवश्यकता मानेगा उसका चयन करेगा। एक सन्दर्भ में भले ही यह प्रतीत हो कि कोई विशेष वस्तु आवश्यकता नही है किन्तु तार्किक रूप से किसी भी वस्तु को आवश्यकता न मानना निरर्थक या असंगत नही है। पर यदि यह दिखाया जा सके कि कुछ वस्तुओं को आवश्यकता मानना अनिवार्य है तो यह भी माना पड़ेगा कि ये वस्तुएं अनिवार्य शुभ है तथा हम निर्णय करने में पूर्ण स्वतंत्र नहीं है। यदि ऐसा है तो वर्णनात्मक वाद सत्य है। क्या ऐसा कुछ है जिसे सभी मनुष्य चाहते है या जो सभी के लिए आवश्यक है? फिलिया फुट एक ऐसा उदाहरण देती है शारीरिक चोट से बचना। किन्तु उसके आलोचकों का मत है कि ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे सभी चाहते हैं या जो सबके लिए आवश्यक है। अपराध बोध से ग्रस्त किन्तु चोरी की इच्छा पर नियंत्रण न कर पाने वाला व्यक्ति अपने हाथ काट सकता है। फिलिप्स एवं माउंस का मत है कि विभिन्न परम्पराओं में निहित विश्वास एवं आदर्श परस्पर विरोधी वस्तुओं को आवश्यकता के रूप में निर्धारित कर सकते हैं। उदाहरण के लिए एक रोमन कैथोलिक महिला गर्भ निरोधक सामग्रियों को अनैतिक मानने हुए उन्हे अनावश्यक मानती है जबकि एक धर्म निरपेक्ष बौद्धिक व्यक्ति इन्हें आवश्यक मानता है। आर. डब्लू. वर्ड्समोर ने अपनी पुस्तक ***मॉरल रीजनिंग*** (1969) में एक मध्यम मार्ग का अनुसरण किया है। हेअर के विरोध में उसका कहना है कि केवल आकार से नैतिकता का निश्चय नहीं होता। फुट का यह विचार सत्य है कि नैतिकता की विषय-वस्तु भी आवश्यक है। किन्तु फुट के विरोध में उसका मत है कि न्याय जैसे सद्गुणों को उनसे भिन्न किसी विषय जैसे, इच्छा, आवश्यकता, हित या कल्याण का मात्र साधन नहीं

माना जा सकता। इसी प्रकार फुट का यह मत भी उपयुक्त नही है कि नैतिक निर्णयों का कोई एक विषय है। ईमानदारी, विश्वास, सत्य, न्याय, साहस, तथा अन्य सद्गुणों ही ऐसे संप्रत्यय हैं जिनसे नैतिक निर्णयों को प्रमाणित किया जा सकता है। यद्यपि बर्ड्समोर की युक्तिआँ बहुत स्पष्ट नहीं है, किन्तु कुछ महत्वपूर्ण बातों की ओर उसने ध्यान दिया है।

वार्नाक यह स्वीकार करता है कि तार्किक रूप से किसी भी वस्तु के लिए कहा जा सकता है कि वह आवश्यकता नहीं है, अतः किसी भी वस्तु के शुभ होने का निषेध किया जा सकता है। किन्तु वह कहता है कि यह आवश्यक नहीं है कि यह सदैव या अनिवार्यतः नैतिक निर्णय हो। यदि कोई निर्णय नैतिक निर्णय है तो इसका आधार अनिवार्यतः मानवीय इच्छा, आवश्यकता आदि ही है क्योकि यही 'नैतिक' का अर्थ है। वार्नाक का यह भी मत है कि यह तथ्य है कि हमारी कुछ इच्छायें एवं आवश्यकताएं हैं। इनका निषेध बुद्धिगम्य नहीं है जैसा हम पहले देख चुके हैं हेअर एवं वार्नाक तथाफुट मानव इच्छाओं एवं आवश्यकताओं को नैतिकता के लिए आवश्यक मानते है। अन्तर यह है कि हेअर के अनुसार सभी व्यक्तियों की इच्छाओं पर ध्यान देना आवश्यक है, किन्तु वार्नाक एवं फुट के अनुसार सभी इच्छाओं का महत्व नहीं है। कुछ निश्चित आवश्यकताएं हैं। जिनसे नैतिकता का निर्धारण होता है। इनके अनुसार हठवादी नैतिकता नैतिकता नही है।

अब प्रश्न है कि नैतिक तर्कना का वास्तव में स्वरूप क्या है? प्रज्ञावाद में इस पर विशेष ध्यान नही दिया गया है। संवेगवाद में इन युक्तियों को केवल प्रवर्त्तक रूप में लिया गया है तथा तार्किक रूप में तर्क की संभावना का खण्डन किया गया है। टूलमिन, हेअर, तथा नव्य प्रकृतिवादियों के मत एकांगी एवं अतिवादी हैं। किन्तु इनमें सत्य के अंश निहित हैं। हेअर का परामर्शवाद इन सब में निश्चित रूप से अधिक उपयुक्त हैं, किन्तु प्रत्येक नैतिक सिद्धान्त को व्यक्ति के निर्णय से उत्पन्न मानने में कठिनाइयां हैं। यद्यपि प्रासंगिक तथ्य, अन्य व्यक्तियों की इच्छा एवं सार्वभौमिकता का नियम इस स्वच्छन्दता को पर्याप्त सीमा तक नियंत्रित करते हैं, पर अन्त में नैतिक सिद्धान्त केवल निर्णय पर निर्भर हैं एवं उनका बौद्धिक औचित्य स्थापित

नहीं होता। नैतिकता के लिए विषय वस्तु भी आवश्यक है। यही नव्य प्रकृतिवाद का सत्यांश है। मानवहित नैतिक तर्कना के लिए महत्वपूर्ण है। किन्तु हित की अवधारणानियामक अवधारणा है केवल वर्णनात्मक नहीं। इसी प्रकार इच्छायें एवं आवश्यकताएं भी मूल्यों एवं आदर्शों से सम्बन्धित विश्वासों से नियंत्रित होती है। अतः टूलमिन एवं फिलिप्स के सिद्धान्त प्रासंगिक हो जाते हैं। डी. जेड फिलिप्स का यह मत उचित है कि नैतिकता के लिए कुछ सद्‌गुणों एवं दुर्गुणों के संप्रत्यय अनिवार्य है। बर्ड्समोर का यह विचार भी सत्य है कि विभिन्न परम्पराओं में ये भिन्न-भिन्न हो सकते है। वार्नाक भी मानता है कि हम मंगलवासियों का आचरण नहीं समझ सकते। इससे उसे यह निष्कर्ष निकालना चाहिए था कि उसने जिन संप्रत्ययों को आवश्यकता माना है वे केवल आधुनिक उदारवादी परम्परा के लिए अनिवार्य है मंगल तक जाने की आवश्यकतानहीं है। हमारे इतिहास में ही इस प्रकार के भेद विद्यमान हैं। अन्य परम्पराओं को अबुद्धिगम्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि विभिन्न परम्पराओं में स्वतंत्र संवाद संभव नहीं।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्रत्येक सांस्कृतिक परम्परा में कुछ नैतिक नियम मान्य होते हैं। इनके आधार पर कर्मों का औचित्य सिद्ध किया जाता है। किन्तु टूलमिन के समान मूल्यात्मक अनुमान मानने की आवश्यकता नहीं है। स्वीकृत एवं विवाद रहित नियमों को आधार वाक्य मानकर नैतिक निष्कर्ष प्राप्त किये जा सकतेहैं। हेअर का मत उपयुक्त है कि एक आधार वाक्य का मूल्यात्मक होना अनिवार्य है। केवल तथ्यात्मक कथनों से नैतिक निष्कर्ष प्राप्त नही हो सकता। जिन्हें नव्य प्रकृतिवादी तथ्यात्मक संप्रत्यय मानते हैं उनमें नैतिक या मूल्यात्मक तत्व निहित होते हैं। 'अशिष्ट', 'निर्दोष', 'हत्या' 'प्रेम' आदि ऐसे ही शब्द हैं। प्रायः सभी परम्पराओं में नैतिक नियमों के आधार पर नैतिक तर्कनायें दी जाती हैं। जहां तक नैतिक नियमों एवं आदर्शों का प्रश्न हैं वे भी परंपरा द्वारा स्वीकृत होते हैं। जब इन पर विवाद होता है तो हम परम्परा में मान्य व्यापक जीवन रूपों के आधार पर तर्क प्रस्तुत कर सकते हैं। हेअर का यह मत सत्य है कि यदि अन्य व्यक्तियों का अहित न हो तो व्यक्ति अपने आदर्श का चयन स्वयं

कर सकता है। किन्तु सामान्य रूप में जीवन विद्या (विट्गेंस्टाइन) ही सामान्य नियमों का निर्धारक है। यही समस्त तर्कना का अन्तिम आधार है। इस सन्दर्भ में दो बातें महत्वपूर्ण है। एक यह कि सदैव अन्तिम औचित्य की आवश्यकता नहीं रहती। दूसरी यह कि जहाँ ऐसी आवश्यकता पड़ती है हमारी जीवन विधा ही अन्तिम आधार है। पर जैसे कोई व्यक्ति विना अन्य व्यक्तियों के हितों की हानि के अपना आदर्श चुन सकता है, वैसे ही विद्रोही व्यक्ति स्वीकृत नियमों या आदर्शों को मान सकता है। पर उसे भी किन्हीं न किन्हीं मूल्यात्मक संप्रत्यय श्रृंखला को आधार बनाना पड़ेगा।

इस विवेचना के साथ एक चेतावनी आवश्यक है। यहॉ हमने कुछ सुझाव मात्र दिया है। वर्तमान प्रबन्ध में इसका विस्तृत विवेचन संभव नहीं है।

सन्दर्भ पुस्तकें एवं लेख

1. एयर ए. जे., फिलॉसफिकल एसेज,

2. — लैंग्वेज ट्रथ एण्ड लॉजिक, द्वितीय संस्करण, पेंग्विन, 1971

3. — सं० लॉजिकल पाज्टीविज्म ब्लैंको 1959

4. एडवर्ड्स, पाल०, 'द लॉजिक ऑफ मॉरल डिस्कोर्स', 1955

5. आंसकोम्ब, जी० ई० एम०, "माडर्न मॉरल फिलॉसफी", फिलॉसफी, 33, 1958

6 — इन्टेंशन, ब्लैकवेल, ऑक्सफोर्ड, 1957

7 अर्मसन, जे० ओ०, "आन ग्रेडिंग", माइंड, 49, 1950

8. — द इमोटिव थ्योरी ऑफ एथिक्स, लंदन, 1968

9. ऑग्डन, सी० के० और रिचर्ड्स, आई० ए०, "द मीनिंग ऑफ मीनिंग", केगन पॉल, लंदन, 1923

10 आस्टिन, जे० एल०, 'हाऊ टू डू थिंग्स विद वर्ड्स, आक्सफोर्ड, 1962

11. आल्सटन, डब्ल्यू० पी०, फिलॉसफी ऑफ लैंग्वेज, इंजिलऊड क्लीप्स एन० जे०, 1964

12 ब्रान्ट, रिचर्ड बी०, ऐथिकल थ्योरी प्रेंटिस हॉल, 1959

13. — "द डैफिनिशन ऑफ ऐन 'आइडियल ऑब्जरवर' थ्योरी ऑफ ऐथिक्स" फिलॉसफी ऐण्ड फिनामिनॉलाजिकल रिसर्च, मार्च, 1955

14. बेंथम, जरमी, इन्ट्रोडक्शन टु द प्रिन्सिपल ऑफ मॉरल ऐण्ड लेजिस्लेशन, अनेको संस्करण

15. ब्रोड, सी० डी०, 'सर्टेन फीचर्स इन मूर्स ऐथिकल डॉक्ट्रिन्स' शिल्प, पी० ए० द्वारा सम्पादित 'फिलॉसफी ऑफ जी० ई० मूर' में संकलित

16. — "इज 'गुडनेस' द नेम ऑफ ए सिम्पुल नॉन नेचुरल प्रोपर्टी ?" प्रोसीडिंग्स ऑफ द अरिस्टोटेलियन सोसाइटी-1934

17. ब्लैंशर्ड, ब्रांड, 'रीजन ऐण्ड गुडनेस', अलेन ऐण्ड अनविन, 1961

18. बेयर, कुर्ट, 'गुड रीजन्स' कैनेथ पहल तथा मार्विन शिलर द्वारा सम्पादित 'रीडिंग्ज इन कन्टेम्पोररी एथिकल थ्योरी' में संकलित

19 — "व्हाई शुड वी बी मॉरल ?"

20. — "द पॉइन्ट्स ऑफ व्यू ऑफ मॉरेलिटी"

21. — "द मॉरल प्वाइंट ऑफ व्यू", इथाका, न्यूयार्क, 1958

22. बेनेट, जे०, "मॉरल आर्गुमेंट" माइण्ड, 1960

23. बिंच, पी०, "मॉरल इन्टीग्रिटी" ऑक्सफोर्ड, 1968

24. बर्ड्समोर आर० डब्ल्यू०, "मॉरल रीजनिंग" लंदन, 1969

25. ब्लैक, एम०, "द गैप बिटवीन 'इज' ऐण्ड 'शुड' फिलॉ० रिव्यू, 75, 1964

26. कार्नप, रूडोल्फ, "फिलॉसफी ऐण्ड लॉजिकल सिंटैक्स"

27 कर्नर, जी० सी०, "द रिवोल्यूशन इन ऐथिकल थ्योरी" ऑक्सफोर्ड, 1966
बिंकले, एल० जे०, कन्टेम्पोररी एथिकल थ्योरीन, न्यूयार्क, 1961

28. डग्लस, सिनोर और फोशन, एन० सं०, हेयर ऐण्ड क्रिटिक्स, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1988

29. फर्थ, रोड्रिक, ऐथिकल एब्सोल्यूटिज्म ऐण्ड द आइडियल ऑब्जर्वर, फिलासकी एण्ड फिनामिनालाजिकल रिसर्च 1955

30. फुट, फिलिपा, सं०, थ्योरीज ऑफ ऐथिक्स, आक्सफोर्ड, 1967

31. — 'मॉरल बिलीफ्स', प्रोसीडिंग्स ऑफ द अरिस्टोटेलियन सोसाइटी, 1958, 59, हडसन सम्पादित द डज-ऑट क्वेश्चन में संकलित

32. — 'मॉरल आर्गुमेंटस' जी० वालेस तथा ए० डी० एम० वॉकर द्वारा सम्पादित 'द डेफिनेशन ऑफ मॉरेलिटी' में संकलित

33 — 'वर्च्यूस ऐण्ड वाइसेज', 1978

34. फेल्डमैन, एफ०, "हेअर्स प्रूफ" फि० स्टडीज, 45, 1984

35. फ्रैकेना, डब्ल्यू० के०, "मैकिन्टायर आन डिफाइनिंग मॉरैलिटी" फिलॉसफी, 33, 1958

36. फ्ल्यू; ऐंटोनी, 'आन द इंटरप्रेटेशन ऑफ ह्यूम', हडसन सं० 'द इज-आट क्वेश्चन' में संकलित

37. फ्लेचर, जे०, 'सिचुवेशन एथिक्स', लंदन, 1966

38. फ्ल्यू, ए० पी० एन०, "ऑन नॉट डिराइविंग 'आट' फाम 'इज', एनालिसिस, 25, 1965

39 गीच, पी० टी०, 'गुड ऐण्ड ईविल', श्रीमती फिलिपा फुट द्वारा सम्पादित 'थ्योरीज ऑफ ऐथिक्स' में संकलित

40. — "द वर्च्यूस' -1977

41 गाथिअर, डी० पी०, हेअर्स, डेटर्स, माइण्ड, 77, 1968

42. — प्रैक्टिकल रीजनिंग, ऑक्सफोर्ड युनि० प्रेस, 1963

43. हेअर, आर० एम०, द लैंग्वेज ऑफ मॉरल्स, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1963

44. — "युनिवर्सलाइजेविलिटी" अ० सो०, 55, 1955

45. — "रिव्यू ऑफ जेनरेलाइजेन इन ऐथिक्स" एम० सिंगर, फि० क्वा०, 1962

46 — फ्रीडम ऐण्ड रीजन, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1963

47. — "डिस्क्रिप्टीविज्म" ब्रिटिश एकादमी, 49, हडसन, डब्ल्यू० डी०, सं० द इज-ऑट क्वेश्चन में संकलित

48. — "सम अलेज्ड डिफरेंसेज विटवीन इम्पेरेटिव्स ऐण्ड इंडीकेटिव्स" माइण्ड, 1976

49. — "रिव्यू ऑफ कन्टेम्पोररी मॉरल फिलॉसफी" वार्नाक जी० जे०, माइण्ड, 1977

50. — एसेज ऑन फिलासाफिकल मेथड, मैक्मिलन 1971

51 — प्रैक्टिकल इन्फरेंसेज, मैक्मिलन, 1971

52. — एसेज ऑन द मॉरल कान्सेप्ट्स, मैक्मिलन, 1972

53. — मॉरल थिंकिंग, आक्सफोर्ड, युनिवर्सिटी प्रेस, 1981

54. — "ऐन एम्बीग्विटी इन वार्नाक" वायोएथिक्स, 1, 1987

55. — "रेप्लाइज टु क्रिटिक्स", हेअर एण्ड क्रिटिक्स, सं०, डगलस एण्ड फोशन और डी० आक्सफोर्ड, युनिवर्सिटी प्रेस, 1988

56. — एसेज आन पालिटिकल मॉरेलिटी, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1989

57. — ऐथिक्स, द कन्साइज ऐन्साइक्लोपीडिया ऑफ वैस्टर्न फिलॉसफी एण्ड फिलॉसफर्स, सम्पादक, अमर्सन, जे० ओ०

58. — 'गीच : गुड ऐण्ड ईविल', फुट सं० थ्योरीज आफ एथिक्स

59. — 'द प्रोमिसिंग गेम', श्रीमती फिलिपा फुट द्वारा सम्पादित "थ्योरीज ऑफ ऐथिक्स" में संकलित

60. ह्यूम, डेविड, ए ट्रिटाइज ऑफ ह्यूमन नेचर, सेल्वी विग संस्करण
हडसन, डब्ल्यू० डी०, ए सेंचुरी ऑफ मॉरल फिलॉसफी, 1980

61. — "द इज-आट कन्ट्रोवर्सी" एनालिसिस, 25, 1965

62. — मॉडर्न मॉरल फिलॉसफी, मैक्मिलन, 1970

63. — सं०, द इज-ऑट क्वेश्चन, मैक्मिलन, 1969

64. हचिसन, फ्रांसिस, "इन्क्वायरी कन्सर्निंग वर्च्यू ऑर मॉरल गुड" ब्रिटिश मारेलिस्ट्स में संकलित, सम्पादक, सैल्बी विग, एल० ए०

65. हंटर, जी, 'ह्यूम ऑन 'इज' ऐण्ड 'ऑट', डब्ल्यू० डी० हडसन द्वारा सम्पादित 'द इज ऑट क्वेश्चन' में संकलित, मैक्मिलन, 1969

66. हैम्पशायर, एम०, थॉट ऐण्ड ऐक्शन, 1959

67. — फ्रीडम ऐण्ड द इंडीविजुवल, 1965

68. मूर, जी० ई०, प्रिंसिपिया एथिका, क्रैम्ब्रीज युनिवर्सिटी प्रेस, 1903

69. — "ए रिप्लाई टु माई क्रिटिक्स", शिल्प सं० फिलॉसफी ऑफ जी० ई० मूर

70. — एथिक्स, होम युनिवर्सिटी लाइब्रेरी, 1939

71. म्योरहेड, जे० एच०, द ऐलिमैंट्स ऑफ एथिक्स

72. मैकिंटायर, ए० सी० 'व्हट मॉरैलिटी इज नॉट" "फिलॉसफी" 32, 1957

73 स० वैलेस एण्ड वाकर 'द डैफिनिशन ऑफ मॉरैलिटी' में संकलित

74 — मैकिंटायर "ह्यूम ऑन 'इज' ऐण्ड 'ऑट'", फिलसॉफिकल रिव्यू 1959

75. — "आफ्टर वर्च्यू, 1981

76. मैकी, जे० एल, एथिक्स, पेंग्विन, 1977

77. मेल्डेन, ए० आई०, फ्री एक्शन, 1961

78. मोनरो, टी० एच०, डम्पिरीसिज्म ऐण्ड एथिक्स, कैम्ब्रिज, 1967

79. नोवेल स्मिथ, पी० एच०, एथिक्स, ब्लैकवेल, आक्सफोर्ड, 1957

80 प्राअर, ए० एन०, लॉजिक ऐण्ड द बेसिस ऑफ एथिक्स, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1949

81. पैरी, आर० वी०, रैल्म्स ऑफ वैल्यू, 1954

82. प्राइस, रिचर्ड, 'ए रिव्यू ऑफ द प्रिंसिपल क्वेश्चन्स इन मॉरल्स' सम्पादक रैफेल, डी० डी०

83. प्रिचर्ड, एच० ए०, 'इज मॉरल फिलॉसफी रैस्ट ऑन ए मिस्टेक', कैनेथ पैहल और मार्विन शिलर द्वारा सम्पादित 'रीडिंग्ज इन कन्टैम्प्रेरी ऐथिकल थ्योरी' में संकलित

84. — 'मॉरल ऑब्लिगेशन' आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1949

85. पापर, के० आर०, द लॉजिक ऑफ साइंटिफिक डिस्कवरी, 1959, हचिसन

86. पैले, विलियम, द प्रिंसिपल्स ऑफ मॉरल ऐण्ड पॉलिटिकल फिलॉसफी'

87. फिलिप्स, डी० जेड०, 'डज इट पे टु बी गुड ?, प्रोसीडिंग्स ऑफ द ऐरिस्टोटेलियन सोसाइटी, 1964-65

फिलिप्स, डी० जे० और मांउंस, एच० ओ० "ऑन मोक्रल्टीज हैवींग ए पोइंट" 'फिलॉसफी', 1965

88 रिचर्ड्स, डी० ए० जे०, ए थ्योरी ऑफ रीजन्स फॉर ऐक्शन, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1970

89 राखेल्स, जे०, सं० मॉरल प्रोब्लेम्स, हार्पर ऐण्ड रो, 1975

90. रसेल, बरट्रेंड, 'द ऐलिमैंट्स ऑफ ऐथिक्स, सैलर्ज, डब्ल्यू, और हॉसपर्ज, जे० द्वारा सम्पादित 'रिडिंग्ज एन ऐथिकल थ्योरी' में संकलित

91. रॉस, डब्ल्यू० डी०, 'द राइट ऐण्ड द गुड', आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1930

92. — 'फाउण्डेशन ऑफ एथिक्स, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1939

93 रेश्चर, एन०, 'द लॉजिक ऑफ कमाण्ड्स', लंदन, 1966

94. स्टीवेंसन, सी० एल०, ऐथिक्स ऐण्ड लैंग्वेज, ऐल युनिवर्सिटी प्रेस, 1945

95. — 'द नेचर ऑफ एथिकल डिसैग्रीमैंट', जोसेफ काट्ज द्वारा सम्पादित 'राइटर्ज ऑन ऐथिक्स' में संकलित

96 — "द इमोटिव मीनिंग ऑफ ऐथिकल टर्म्ज" ए० जो० एयर द्वारा सम्पादित 'लॉजिकल पॉजिटिविज्म' में संकलित

97. — "पर्सुएसिव डेफीनीनेशन" माइण्ड, 1937

98. — "फैक्ट्स ऐण्ड वैल्यूज", न्यू हावेन, 1963

99. शार्प, एफ० सी०, 'ऐथिक्स'

100.शैफ्ट्सबरी, 'इन्क्वाएरी कन्सर्निंग वर्च्यू ऑफ मैरिट'

101.सर्ल, जे० आर०, "हाऊ टु डिराइव 'ऑट' फ्राम 'इज' ? केनेथ पैहल तथा मार्विन शिलर द्वारा सम्पादित 'रीडिंग्ज इन कन्टैम्प्रैरी ऐथिकल थ्योरी' में संकलित

102.— स्पीच एक्ट्स, कैम्ब्रिज, 1969

103.— "मीनिंग ऐण्ड स्पीच एक्ट्स" फि० रिव्यू०, 1962

103.— "हाऊ टु डिराइव 'ऑट' फ्राम 'इज', फि० रिव्यू०, 73, 1964

104. सिंगर, एम०, जेनरैलाइजेशन इन ऐथिक्स, नाफ, 1961

105 सिंगर, पी०, प्रैक्टिकल ऐथिक्स, 1979

106.शिल्प, एल० ए०, सं०, द फिलॉसफी ऑफ जी० ई० मूर, इवांसटन, 1942

107.स्ट्रासन, पी० एफ०, "सोशल मोरल्टी ऐण्ड इन्डीविजुवल आइडियल फिलॉसफी," 1961

108 — "इण्डीविजुएल्स", आक्सफोर्ड, 1959

109.टूलमिन, एस० ई०, 'ऐन ऐग्जामिनेशन ऑफ द प्लेस ऑफ रीजन इन ऐथिक्स',1950

110.वार्नाक, एम०, 'एथिक्स सिन्स 1900, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1978

111.वार्नाक, जी० जे०, द ऑब्जेक्ट ऑफ मॉरेलिटी, मैथुएन, 1971

112.— कन्टेम्पोररी मॉरल फिलॉसफी ', मैक्मिलन, 1966

113. वायसमान, एफ०, द प्रिंसिपल्स ऑफ लिंग्विस्टिक फिलॉसफी, लंदन,

114. वैलेस, जे०, 'वर्च्यूस ऐण्ड वाइसेज' 1978

115.विट्गेंस्टाइन, एल०, 'फिलसोफिकल इन्वेस्टीगेशंन'

116.— "ए लेक्चर ऑन एथिक्स", फि०, रिव्यू० 1965

117.— टैक्टेट्स लॉजिको फिलासाफिकस, 1922

118.वैस्टरमार्क, ऐथिकल रिलेटिविटी